कैनेडा से प्रकाशित साहित्यिक पत्रिका

वसुधा

Year7, Issue 27
July-Sept. 2010

VASUDHA A CANADIAN PUBLICATION

EDITOR - PUBLISHER : SNEH THAKORE

संपादन व प्रकाशन
स्नेह ठाकुर

वर्ष ७ - अंक २७, जुलाई-सितम्बर २०१०

हम नवीन भारत के सैनिक

रामधारी सिंह 'दिनकर'

हम प्रभात की नयी किरण हैं,
हम दिन के आलोक नवल।
हम नवीन भारत के सैनिक,
धीर, वीर, गम्भीर, सबल।
हम प्रहरी ऊँचे हिमाद्रि के,
सुरभि स्वर्ग की लेते हैं।
हम हैं शांतिदूत धरिणी के,
छाँह सभी को देते हैं।
वीर-प्रसू माँ की आँखों के,
हम नवीन उजियाले हैं।
गंगा, यमुना, हिन्द महासागर के
हम रखवाले हैं।

वसुधा

संपादन व प्रकाशन : स्नेह ठाकुर

शीर्षक	रचयिता	पृष्ठ
संपादकीय		२
आज़ादी	हरीश चन्द्र जोशी	६
अपने ही घर में बेघर हिन्दी	डा. अरुण कुमार पाण्डेय	८
कर्म और ज्ञान	डा. हरनेक सिंह गिल	१०
सुर्ख़ गुलाब और ज़िन्दगी	डा. इन्द्रा भटनागर	११
बहारें	जय वर्मा	१६
हिन्दी अपनाएँ, इंडिया को भारत बनाएँ	वीरेन्द्र कुमार यादव	१७
मेरा देश	स्नेह ठाकुर	२०
बेटी की बारात न लौटे	निर्मला सिंह	२३
झण्डा गीत	श्यामलाल गुप्त पार्षद	२६
आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में राष्ट्रीयता	डा. त्रिभुवन नाथ शुक्ल	२७
सच्ची सती	फूल कुमारी	२८
योगमाया	कादम्बरी मेहरा	२९
१८५७	गुलजार	३२
पंचायतनामा	डा. अरुण प्रकाश ढौडियाल	३३
क्यों	आभा कुलश्रेष्ठ	३६
स्वाधीनता और साहित्य	डा. रमेशचन्द्र शाह	३७
हम नवीन भारत के सैनिक	रामधारी सिंह दिनकर	१३अ
अरुण यह मधुमय देश हमारा	जयशंकर प्रसाद	४४अ

रचनाओं में निहित विचार तथा मन्तव्य रचनाकारों के निजी विचार तथा मन्तव्य हैं। 'वसुधा' रचनाकारों के विचारों के लिए उत्तरदायी नहीं है। प्रकाशक की आज्ञा बिना कोई रचना किसी प्रकार उद्धृत नहीं की जानी चाहिए। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा।

रचनाएँ भेजने के लिए सम्पर्क पता :

16 Revlis Crescent, Toronto, Ontario M1V-1E9, Canada. TEL. 416-291-9534

वार्षिक शुल्क Annual subscription..........$25.00

डाक द्वारा By Mail................................$35.00

Website: http://Vasudha1.webs.com

e-mail: sneh.thakore@rogers.com

संपादकीय

इस वर्ष भारत की साहित्यिक यात्रा के आनन्द ने हृदयानुभूतियों को जहाँ आनन्द-सागर में डुबो-डुबो आलोड़ित कर आनन्दित किया, वहीं इस यात्रा ने अपनी प्रिय भाषा हिन्दी के प्रति मस्तिष्क की जुगाली के लिये कई प्रश्न भी उपस्थित किये। संगोष्ठियों, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में देश और विदेश के अनेक विद्वानों से मिलन, विचार-विमर्श ने हृदय और मस्तिष्क दोनों के लिये ही अपूर्व सामग्री जुटाई; अनुभूतियों, भावनाओं, विचारों को समृद्ध किया।

चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के रसायनशास्त्र विभागाध्यक्ष डॉ. राकेश कुमार सोनी, भौतिक शास्त्र विभागाध्यक्ष डॉ. विनोद रस्तोगी, देवम् फाउन्डेशन की अध्यक्ष डॉ. मौना कौशिक के संयोजन में 'इन्टरनेशनल कॉन्फरेन्स ऑफ ग्रीन टेकनॉलाजी फॉर ग्रीनर एनवॉयरलमेण्ट' पर आयोजित त्रिदिवसीय 'सेमीनार', दूसरे सम्मेलनों से कुछ हट कर इस दृष्टि से था कि जहाँ इसके सत्र अँग्रेजी में थे, वहीं इस आयोजन में हिन्दी में भी सत्र थे। यह मेरा सौभाग्य था कि यहाँ मुझे हिन्दी में 'पर्यावरण' पर बोलने के लिए एक घण्टे का समय दिया गया। विज्ञान और साहित्य की मिश्रित गंगा-जमुनी धारा-प्रवाह ने सरस्वती का आह्वान किया। विश्वविद्यालय एवं भारत सरकार के वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के डॉ. धमेन्द्र कुमार के सौजन्य व सह-अध्यक्षता तथा प्रो. प्रदीप प्राशर व प्रो. कौशिक की अध्यक्षता में सम्पन्न हुये ये सत्र अत्यन्त सफल रहे। धर्मेन्द्र जी से अनुवाद व हिन्दी भाषा, शब्दों के गठन, उनके चयन पर काफी विस्तार से लाभप्रद विमर्श हुआ। शब्दावली सम्बन्धी उनका ज्ञान सराहनीय है। इस सेमीनार में भाग लेने वाले बुल्गेरिया के प्रोफेसर वेन्को बेसच्कोव की प्रस्तुति काफी कुछ भारतीय दर्शन से प्रभावित लगी।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के सभागार में आयोजित समारोह में डॉ. अरुण ढौडियाल की 'संबंधों के दंश' पुस्तक व 'वसुधा' का लोकार्पण हुआ। समारोह के अध्यक्ष थे भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के श्री अजय गुप्ता, मुख्य अतिथि व विशिष्ट अतिथि थे वित्त-मंत्री डॉ. अशोक कुमार वालिया, मनीपुर सांसद डॉ. टी. मीनया तथा प्रकाशक श्री हरि राम द्विवेदी, और संचालन किया श्री विवेक गौतम ने। श्री अजय गुप्ता जी ने सदैव की तरह इस बार भी अपना अमूल्य समय दिया। जब-जब भी उनसे भेंट हुई उन्होंने उत्साहवर्द्धन ही किया। उनके प्रोत्साहन, उनकी सहृदयता की आभारी हूँ।

अक्षरम् का 'अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी उत्सव' हर वर्ष की भाँति ही भव्य रूप से सम्पन्न हुआ। श्री अनिल जोशी जी के संचालन में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के महानिदेशक श्री वीरेन्द्र गुप्ता द्वारा ठाकुर साहब व मैं पुष्प-गुच्छ प्राप्त कर सम्मानित हो हिन्दी के प्रति और भी दृढ़-संकल्पित हुए, क्योंकि ऐसे सम्मान जहाँ एक ओर व्यक्तिगत सुखानुभूति हेतु हैं, वहीं ये हिन्दी के प्रति प्रवासियों की गरिमामयी भावना के लिये भी हैं; और इस दृष्टि से यह व्यक्तिगत सम्मान के साथ-साथ उस देश विशेष का भी सम्मान है। इसी समारोह में मेरी दो सद्यः प्रकाशित पुस्तकों, 'संजीवनी' व 'उपनिषद् दर्शन' का डॉ. सत्येन्द्र श्रीवास्तव की अध्यक्षता व मंचासीन विद्वत जन, श्री अनिल जोशी, श्री अजय गुप्ता, श्री राहुल देव, श्री उमेश अग्निहोत्री, श्रीमती कादम्बरी मेहरा के सान्निध्य में लोकार्पण सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर श्रीमती कादम्बरी मेहरा की पुस्तक 'रंगों के उस पार' का भी लोकार्पण हुआ। अक्षरम् द्वारा आयोजित 'प्रवासी साहित्य में अस्मिता का प्रश्न' के सत्र में निमंत्रित कर मुझे अपने विचार व्यक्त करने, व अन्तर्राष्ट्रीय कवि सम्मेलन में आमंत्रित कर मुझे सहभागी होने का अवसर प्रदान करने के लिये अनिल जोशी जी, नरेश शांडिल्य जी एवं कार्यकारिणी की आभारी हूँ।

श्रीमती सरोज शर्मा, श्रीमती सत्या त्रिपाठी, श्री शिव कुमार त्रिपाठी, श्रीमती उषा महाजन, श्री विनोद संदलेश, श्री नरेश भारतीय, श्रीमती वीरेन्द्र संधु, श्रीमती अलका धनपत, श्रीमती ममता वाजपेयी, श्री लक्ष्मीशंकर वाजपेयी, डॉ. राहुल देव, डॉ. गंगा प्रसाद विमल के अपनत्व ने निहाल किया।

जर्मनी से पधारीं प्रोफेसर तात्याना का हिन्दी प्रेम अत्यन्त सराहनीय था। जब अहिन्दी भाषी हिन्दी को प्राथमिकता देते हैं तो हिन्दी की गरिमा और भी बढ़ जाती है।

प्रख्यात साहित्यकार श्रीमती चित्रा मुद्गल जी से मिलन व वार्त्ता सदैव की भाँति ही उत्साहवर्धक व आत्मीयतापूर्ण थी।

डॉ. अशोक चक्रधर के साठवें वर्ष में प्रवेश के अवसर पर उनकी दो पुस्तकें - 'कुछ कर न चम्पू' व 'चम्पू कोई बयान नहीं देगा' - का लोकार्पण दिल्ली की मुख्य मंत्री श्रीमती शीला दीक्षित द्वारा हुआ। इस शुभ अवसर पर ठाकुर साहब व मुझे भी आमंत्रित किया गया था। आमंत्रण व वहाँ प्राप्त हुए आनन्द हेतु अशोक जी एवं वागेश्री जी के प्रति हम दोनों ही आभारी हैं।

श्रीमती मधु गोस्वामी ने अपने अमूल्य समय से समय निकाल मेरी 'संजीवनी' तथा 'उपनिषद् दर्शन' पुस्तकें पढ़ अपनी आत्मानुभूति से अनुभूत प्रशंसा कर अभिभूत किया।

पुनः चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ का आतिथ्य प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस बार हिन्दी विभाग के तत्वावधान में विभागाध्यक्ष डॉ. नवीन लोहनी ने एक त्रिदिवसीय 'भूमण्डलीकरण के दौर में हिन्दी' विषय के विभिन्न पक्षों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का भव्य आयोजन किया। उद्घाटन सत्र में जाने-माने पत्रकार व कवि डॉ. अशोक मिश्र के संचालन में, कुलपति डॉ. शिबन किशन काक की अध्यक्षता में व मुख्य अतिथि मेरठ सांसद श्री राजेन्द्र अग्रवाल एवं लब्ध प्रतिष्ठ श्री हिमांशु जोशी, श्री से.रा. यात्री, श्री नरेश भारतीय, डॉ. गेनाडी स्लामपोर के सान्निध्य में मुझे भी विशिष्ट अतिथि होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, आभारी हूँ। इस सम्मेलन के सभी सत्र ज्ञानवर्धक व रोचक रहे। डॉ. काक, डॉ. लोहनी से लेकर हिन्दी विभाग व अन्य विभागों के भी प्रोफेसर एवं छात्र-छात्राओं के सक्रिय सहयोग से यह सम्मेलन अत्यन्त सफल हुआ। न केवल डॉ. उमा लोहनी ने पग-पग पर पति का साथ दिया बल्कि सुपुत्र अर्चित, सुपुत्री चितवन ने भी सक्रिय भाग लिया। सोनू रावत और ओंम त्रिपाठी दोनों ही सम्मेलनों में सदा हमारे साथ थे;दोनों को ठाकुर साहब व मेरी शुभाशीष।

इंग्लैंड की श्रीमती जय वर्मा के स्नेहिल साहचर्य की सुमधुर स्मृतियाँ समय और फ़ासले की दूरी को पाट सदैव तरो-ताज़ा रहेंगी।

दक्षिण भारत की प्रोफेसर ललिताम्बा का हिन्दी प्रेम स्तुत्य है। सौम्य, शालीन व्यक्तित्व की धनी ललिताम्बा की मित्रता मेरी अमूल्य निधि है।

मुरैना के डॉ. विष्णु अग्रवाल, त्रिपुरा के डॉ. विनोद मिश्रा, जय, ललिता व मेरा कमरा पास-पास होने से हम सब अतिरिक्त समय में अनौपचारिक गोष्ठियों में मशगूल हो जाते थे।

श्री राकेश दुबे से जितनी बार मिली उतनी ही बार उनकी शालीनता ने प्रभावित किया।

बड़े भाई, पद्श्री विभूषित प्रिय डॉ.श्याम सिंह शशि के सौजन्य से उनके साथ साहित्य अकादेमी के पुरस्कार अर्पण समारोह में उपस्थित हो हिन्दी भाषा हेतु पुरस्कार ग्रहण करने वाले डॉ. कैलाश वाजपेयी जी व अन्य भाषाओं के लिये पुरस्कार प्राप्त करने वालों को हार्दिक बधाई देने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वहीं पर डॉ. कमल किशोर गोयंका, श्री विश्वनाथ तिवारी, सुश्री पदमा सचदेव, सुश्री अनन्या वाजपेयी आदि से वार्तालाप हुआ। इसी दिन साहित्य अकादेमी के डॉ. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी द्वारा प्रदान की गई 'आप्रवासी प्रतिनिधि कहानियाँ' जिसमें मेरी कहानी 'भटकन का अन्त' भी शामिल है और जिसका संपादन विद्वत साहित्यकार श्री हिमांशु जोशी ने किया है, के लिये आभारी हूँ।

प्रिय श्री अनिल जोशी जी के सौजन्य से श्री उमेश अग्हिोत्री व मुझे जयपुर के विवेकानन्द इंस्टीच्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी व जयपुर लाइब्रेरी और इन्फॉरमेशन सोसायटी के संयुक्त तत्वावधान में सम्पन्न हुये राष्ट्रीय सेमीनार में भाग लेने व वहाँ डॉ.राय सिंघानी, श्री दीप सिंह, श्री के.पी.सिंह, डॉ. किरण तिवारी, श्री नवल किशोर, श्री गणेश नारायण, डॉ.योगेन्द्र, डॉ. पानीग्रही, डॉ.ईश्वर भाट व अन्य से मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ। जहाँ जयपुर जाते व आते सारे समय अनिल जी, उमेश जी, अर्का प्रधान जी, ठाकुर साहब व मैं कविता, ग़ज़ल, साहित्यिक वार्त्ता में डूबे, उसका आनन्द उठाने, बतियाने में इतने मशगूल रहे कि यात्रा की थकान का आभास-मात्र भी न हुआ, वहीं इस यात्रा की एक और अविस्मरणीय उपलब्धि रही - जाते हुये रास्ते से ही अनिल जी ने शाहपुरा निवासी अपने लेखक मित्र श्री रामस्वरूप जी को फोन किया और रामस्वरूप जी ने आनन-फानन, अल्पकाल में ही अपने आवास पर साहित्यकारों और पत्रकारों की गोष्ठी का आयोजन जमा दिया। साहित्यिक व शारीरिक दोनों ही क्षुधा तृप्त हुईं। हम सबको रामस्वरूप जी व उनके परिवार तथा नर्मदाशंकर पारिख जी, सत्यप्रकाश जी, फूलचन्द जी सभी से मिल कर बहुत अच्छा लगा।

दिल्ली युनिवर्सिटी से सम्बद्ध दयाल सिंह कॉलेज के हिन्दी विभाग के श्री केदार मंडल व डॉ. तिवारी ने एक कवि गोष्ठी का आयोजन किया जिसमें इन्दिरा गाँधी विश्वविद्यालय एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पदाधिकारियों व छात्र-छात्राओं ने भाग लिया। इसके अध्यक्ष थे जे एन यू के डॉ. गोविन्द मिश्र, संचालक रहे श्री केदार मंडल व मुझे तथा डॉ. मौना कौशिक को अतिथि कवयित्रियाँ बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस गोष्ठी का धन्यवाद-ज्ञापन किया डॉ. तिवारी ने।

डॉ. संतोष गोयल द्वारा स्थापित संस्था 'हमक़लम' के तत्वावधान में, संस्था के संरक्षक, वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. शेरजंग गर्ग व श्रीमती मंजु गर्ग द्वारा आयोजित गोष्ठी के पहले सत्र में द्रोणवीर कोहली जी ने अपनी सद्यः प्रकाशित रिपोर्ताज 'प्रभा नाईक' व 'लट्टू' कहानी पढ़ी। इसी सत्र में मेरी दो पुस्तकों - 'संजीवनी' व 'उपनिषद् दर्शन' तथा श्रीमती अरुणा सब्बरवाल की पुस्तकें 'साँसों की सरगम' व 'कहा अनकहा' का लोकार्पण हुआ। दूसरे सत्र में कविताएँ हुईं। गद्य और पद्य की गंगा-जमुना में सभी ने आनन्दित हो डुबकियाँ लगाईं। गर्ग परिवार ने उपहार-स्वरूप 'राधाकृष्ण' मेरी झोली में डाल, मुझे सुखानुभूति से अचम्भित कर दिया, आभारी हूँ। इस सफल अयोजन में उपस्थित अन्य थे - वरिष्ठ पत्रकार शीला झुनझुनवाला, अमर नाथ 'अमर', श्रीमती नाथ, श्रीमती कोहली, सुनीति रावत, निशा भार्गव, नलिनी भार्गव, आभा कुलश्रेष्ठ, मंजु गुप्ता, सुषमा प्रियदर्शनी, प्रभा किरण, वेद व्यथित, सुरेश यादव, पुष्पा यादव, सुनीता शर्मा, एवं डॉ. टोमोको किकूची। डॉ. टोमोको किकूची ने मेरी कविता 'काश' का जैपनीज़ भाषा में अनुवाद किया है।

स्नेहमयी प्रिय कमला सिंघवी जी के आवास पर उनसे ठाकुर साहब व मेरा, व्यक्ति के सामाजिक व साहित्यिक दायित्व पर विचार-विमर्श हुआ। इस विचारोत्तेजक विमर्श से हुई मस्तिष्क की जुगाली के साथ ही साथ गरमागरम इडली, साँभर, बड़ा, राजस्थानी दाल पराठे, सब्ज़ी की सोंधी खुशबू और ज़ायका व गुजिया की मिठास का रसास्वादन आज भी मन-प्राण को रसप्लावित, रसास्वादित कर रहा है। हाँ, जाते ही आदरणीय एवं प्रिय सिंघवी जी का अभाव बड़ी शिद्दत से महसूस हुआ, पर कुछ ही क्षणों में झिलमिलाती आँखों के चिलमन के पार वो यत्र-तत्र-सर्वत्र महसूस हुये।

अतुल, अनुराधा प्रभाकर जी के घर में आदरणीय श्रद्धेय विष्णु प्रभाकर जी की बरसी उनके सम्पूर्ण परिवार व कुछ घनिष्ठ मित्रों की उपस्थिति में पूजा, अर्चना, हवन द्वारा मनाई गई। उसी समय उनके सुपुत्र अतुल ने मुझे विष्णु जी की नयी पुस्तक 'सम्पूर्ण लघु कथाएँ' उपहार-स्वरूप भेंट देकर कृतार्थ किया।

प्रिय नरेन्द्र कोहली जी व मधु जी की आत्मीयता-भरी दोपहर व साँझ अतीत की अन्य भेंटो की तरह ही अविस्मरणीय है। कार्तिकेय, नचिकेता और भृगु के सान्निध्य ने उसमें 'सोने पे सुहागा' का काम किया। नरेन्द्र जी की तबियत ठीक न होने पर भी उन्होंने इतना लम्बा समय हमारे साथ बिताया, आभारी हैं हम। व्यक्तिगत व साहित्यिक, दोनों ही रूपों में उनसे मिली स्नेहसिक्त धरोहर हमारी थाती है।

साहित्य अकादेमी के उपाध्यक्ष डॉ. ब्रजेन्द्र त्रिपाठी जी की आभारी हूँ जिन्होंने रवीन्द्र भवन में 'प्रवासी मंच' के अन्तर्गत 'कहानी पाठ' का आयोजन किया जिसमें मुझे व उमेश अग्निहोत्री जी को कहानी पाठ हेतु आमंत्रित किया। हम दोनों की ही कहानियाँ साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'आप्रवासी प्रतिनिधि कहानियाँ' पुस्तक संकलन में प्रकाशित हुई हैं।

सुश्री राकेश कुमारी जी की आभारी हूँ कि उन्होंने अपने अति व्यस्त क्षणों में से दो बार अपना अमूल्य समय दिया, साथ ही उनके स्नेह-सिक्त व्यवहार, उनकी आत्मीयता की क़ायल हूँ।

राजभाषा विभाग के संयुक्त सचिव श्री दिलीप कुमार पाण्डे के अमूल्य विचारों व उनकी सहृदयता तथा तकनीकी कम्प्यूटर डायरेक्टर श्री केवल कृष्ण की कम्प्यूटर विशेषज्ञता की आभारी हूँ।

दिल्ली में श्री उमादत्त दुबे जी की वार्त्ता से ऐसा लगा जैसे दिल्ली में नहीं टोराण्टो में बैठी हूँ। उस सुखानुभूति के सागर में डूबते-उतराते समय व काल थम-सा गया था।

श्री महीपाल सिंह व श्री हरीश चन्द्र जोशी की हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु कटिबद्धता प्रेरणादायक है। उनकी लगन देखते ही बनती है। हरीश जी बहुत अच्छे कवि व गायक भी हैं। कविता के क्षेत्र में हरीश जी से हुई साहित्यिक वार्त्ता खुशनुमा अनुभव था।

श्री के. पी. सिंह जी का हिन्दी प्रेम, 'संजीवनी' की सराहना एवं उनके अमूल्य वचनों के प्रति आभारी हूँ।

चित्रकूट मेरी जन्मभूमि है। यह मेरा सौभाग्य है कि वहाँ मेरे प्रिय नन्हें भइया (नन्हें राजा) के सौजन्य से, गुरु जी की कृपा से, प्रिय बुआ जी के आर्शीवाद से मेरी पुस्तकें 'उपनिषद् दर्शन' एवं 'संजीवनी' का लोकार्पण आदरणीय गुरु जी, तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य, विकलांग विश्वविद्यालय के कुलाधिपति के सशक्त कर-कमलों द्वारा उस पावन पुनीत भूमि पर हुआ है, जहाँ उन्होंने विकलांग नहीं सकलांग विश्वविद्यालय प्रतिस्थापित किया है। गुरु जी ने लोकार्पण के अवसर पर तत्काल अपने मुखारबिन्दु से आशीर्वाद-स्वरूप स्व-रचित श्लोक कह कर मुझे कृतार्थ किया। विश्वविद्यालय का द्वितीय दीक्षांत समारोह सफलतापूर्वक भव्य रूप से सम्पन्न हुआ। बुआ जी, नन्हें राजा, कुलपति जी, समधी जी, अवनीश जी, त्रिभुवन नाथ शुक्ल जी व अन्य सभी का प्रसन्नतापूर्वक सहयोग सराहनीय व आनन्ददायी था।

एक सुनहरी साँझ जो देर रात्रि तक खिंचती चली गई, स्वर्गीय प्रिय शंकर काका के सुपुत्र आचार्य श्री नारायण उपाध्याय ने नन्हें भइया, ठाकुर साहब व मुझे अपने कथा-वाचन व मधुर गीत-प्रसंगों से मंत्र-मुग्ध कर दिया। हम चारों की चौकड़ी ऐसी जमी कि किसी को भी समय का भान न रहा। आध्यात्म और दर्शन की विचार-विमर्श-श्रृंखला हनुमान जी की पूँछ की तरह बढ़ती ही चली गयी।

इस यात्रा के दौरान पहले की तरह आदरणीय नानाजी देशमुख के जीवित अवस्था में दर्शन न हो सके। इतने शोकाकुल समय में भी नन्दिता जी जिस आत्मीयता से मिलीं, इसके लिये आभारी हूँ। नानाजी के कल्याणकारी कार्यो को जारी रखने हेतु भरत जी और नन्दिता जी का दृढ़-संकल्प सराहनीय है।

चित्रकूट के दर्शन का एक प्रमुख कारण अम्माँ का दर्शन, उनका सान्निध्य, उनकी अमृत-वाणी का पान, उनका स्नेह-भाजन होना है। परमप्रिय पूज्यनीय कर्नाटिक की माँ, अम्माँ का वरद् हस्त मेरे सिर पर है, मुझे पुत्री रूप में व ठाकुर साहब को दामाद रूप में उन्होंने अपनाया हुआ है यह हमारा बहुत बड़ा सौभाग्य है। अपने हाथों से कुछ न कुछ बना जब वो हमें प्रेमपूर्वक खिलाती हैं तो उनके उस ममत्व का, उस ममता में भींगे अपने तन-मन की अनुभूतियों का वर्णन अवर्णनीय है। पिछली बार हनुमान जी की पाँच किलो की अष्ट-धातु की मूर्ति उन्होंने मेरे आँचल में डाली थी, इस बार उन्होंने आशीर्वाद-स्वरूप अमूल्य ग्रंथों व राम-दरबार राम मंदिर से मेरी झोली भर हमें कृत-कृत्य किया, गद्-गद् कर कृतार्थ किया। माँ के ममत्व का आभार चुकाना मेरे वश का नहीं, बस उनकी कृपा को सर-माथे पर सादर धारण कर ईश्वर से उनकी लम्बी आयु की प्रार्थना करती हूँ।

डॉ. विमलेश कांति वर्मा सदैव की भाँति ही हिन्दी के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं। तत्कालीन अस्वस्थता भी उन्हें साहित्यिक चर्चा से विचलित न कर पायी। हर्ष की बात है कि उन्हें साहित्यिक गतिविधियों में धीरा जी का सम्पूर्ण सहयोग प्राप्त है।

श्रीमती आभा कुलश्रेष्ठ की अभारी हूँ कि उन्होंने 'वसुधा' को सहयोग दिया।

जबलपुर न पहुँच पाने के दुःख को प्रिय भाई डॉ. त्रिभुवन नाथ शुक्ल ने दिल्ली आकर कम कर दिया। उनके साथ काफी समय व्यक्तिगत व साहित्यिक विचार-विमर्श हुआ। दोनों ही रूपों में उनका प्रोत्साहन ह्रदयस्पर्शी है।

श्रीमती जया शर्मा, जो प्रवासी साहित्य पर शोध कर रही हैं, से बहुत ही रुचिकर साहित्यिक विचार-विमर्श हुआ। उनके द्वारा लिये गये साक्षात्कार हेतु धन्यवाद। पति पंकज पेशे से वकील हैं और हिन्दी को समर्पित हैं। पंकज जी की सोच व हिन्दी के प्रति लगाव ने प्रभावित किया। यह इस तथ्य के साक्षी के रूप में लगा कि भारत की युवा पीढ़ी हिन्दी के साथ है। ईश्वर इन्हें इस पथ पर आगे ही आगे अग्रसित करे, यही शुभकामना है।

विचार दृष्टि के सहसम्पादक श्री उपेन्द्रनाथ से मिलन इस बात के प्रति आश्वासित कर गया कि जब तक युवा पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे युवा हिन्दी के साथ हैं, हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। उनके द्वारा प्रसार के विभिन्न माध्यमों हेतु लिये गये साक्षात्कार के लिये व आभास द्वारा उस समय लिये गये चित्र व वीडियो के लिये धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ। सराहनीय बात है कि उपेन्द्र जी नौकरी के साथ ही साथ हिन्दी के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाये हुए हैं जिसमें उन्हें पत्नी नेहा का सम्पूर्ण योगदान प्राप्त है। इस युवा दम्पत्ति के लिये स्नेहाशीष स्वतः ही प्रस्फुटित हो उमड़ रही है। सभी स्मृतियों को ह्रदय में सहेजे, स्वतंत्रता दिवस की बधाई सहित, सस्नेह, स्नेह ठाकुर

आज़ादी

हरीश चन्द्र जोशी

आज़ादी एक बंधन है
जिसके कुछ दस्तूर हैं
देश प्रेम और अनुशासन
इसके वीणा संतूर हैं
छिन्न भिन्न कर तार
सृजित नवगीत न होगा
अणु बम के हर अणु से
तो विध्वंस ही होगा
जीवन पथ में पाणिग्रहण-सा
गठबंधन है आज़ादी
कई बंधनों में कस देती
एक अनोखी शहज़ादी
कभी आज़ादी सुखकर लगती
कभी आज़ादी दुःख देती
सबके कुछ अपने बंधन हैं
सबकी अपनी आज़ादी।
आज़ादी बेशक कहती
अधिकार न छोड़ो
बेशक कहती आज़ादी
हर बाधा तोड़ो।
आज़ादी यह भी कहती
मत शीश झुकाओ
गर्व से सीना तान
कहो हक़ मेरा लावो।
पर यह भी कहती आज़ादी
कि दिल मत तोड़ो
औरों का हक़ छीन

न नाता पाप से जोड़ो।
यह भी कहती आज़ादी
कि ओ दिल वालों
मत इतने आज़ाद बनो
कि शस्त्र उठा लो।
और करो बर्बाद
जो भी दे तुम्हें दिखाई
तोड़-भोड़ और लूटपाट
में नहीं भलाई।
आज़ादी को मात्र
न समझो कोरा सपना
बहुत लहू बहा कर
देश हुआ है अपना।
आज़ादी का मोल
भला वो क्या जाने
जिसने अज़ादी को
अधिकारों से तोला हो।
कर्तव्यों के पलड़े पर
रख संविधान
हर विधान को
अपने हित में मोड़ा हो।
आज़ादी की बलिबेदी पर
लहू बहाने वालों में
हम तुम का
बंधन कब था।
एक सोच थी
एक तमन्ना
अलग-अलग
चिन्तन कब था?

अपने ही घर में बेघर हिन्दी

डॉ. अरुण कुमार पाण्डेय

भाषा केवल मनुष्य के विचारों और भावों को अभिव्यक्त ही नहीं करती अपितु वह संस्कृति की वाहिका होती है। वह समस्त विधाओं, कलाओं यानी मानव व्यवहार से जुड़ी समस्त उपलब्धियों की एकमात्र आधार होती है। इसके अभाव में संसार अज्ञानता के अंधकार से मुक्त नहीं हो सकता है। हिन्दी भारत की जन-भाषा रही है। यह देश की सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली भाषा है। भारत के लगभग ६० प्रतिशत लोग हिन्दी बोलते हैं और १०-१५ प्रतिशत अन्य लोग हिन्दी समझ लेते हैं। इस प्रकार ७५ प्रतिशत लोगों की सम्पर्क भाषा हिन्दी है। हिन्दी के इस विशाल प्रभाव के कारण ही गाँधी जी ने स्वतंत्रता आंदोलन में इसको हथियार के रूप में अपनाया। लोहिया ने तो यहाँ तक कहा कि हिन्दी से ही भारत की पहचान हो सकती है। उनके विचार से अँग्रेजी भाषा का ज्ञान रखने वाले लोग हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को बोलने वाली गरीब जनता का भाषा के आधार पर शोषण करते हैं। इसलिए लोहिया ने हिन्दी को एक आंदोलन के रूप में खड़ा किया था। आज हिन्दी का जो विकसित रूप दिखाई पड़ रहा है, उसमें अनेक लोगों का त्याग और अद्‌भुत समर्पण छिपा हुआ है।

हिन्दी के विकास की अपनी एक संघर्ष-महागाथा है। सन् १९१६ तक हिन्दी की स्थिति यह थी कि उत्तर प्रदेश का संभ्रांत हिन्दू वर्ग हिन्दी में लिखना-पढ़ना या बातचीत करने में शर्म महसूस करता था। उर्दू-फ़ारसी ही सबकी जबान पर थी। राज-काज की भाषा भी फ़ारसी थी। इस शर्मसार स्थिति को देख कर गाँधी जी ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया। उनकी दृष्टि में हिन्दी का प्रचार राष्ट्र-निर्माण का कार्य था। हिन्दी को सम्पूर्ण देश में प्रचारित कर सम्पर्क भाषा बनाने के अपने दृढ़ निर्णय को गाँधी जी ने केवल अपने भाषणों तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे कार्य-रूप में परिणत करने का अथक प्रयास किया। १७ अगस्त १९१८ को अपने पुत्र देवदास गाँधी को हिन्दी शिक्षण के संदर्भ में गाँधी जी ने एक पत्र लिखा - 'मैंने हिन्दी शिक्षण की तुम्हारी दो महीने की रिपोर्ट पढ़ी और मैं संतुष्ट हूँ। . . . .ईश्वर करें तुम्हारी लम्बी आयु हो जिससे मद्रास प्रेसीडेन्सी में हिन्दी एकीकरण की धुन गूँजे, उत्तर और दक्षिण की खाई एकदम मिट जाये। इन दोनों भागों के लोग एक हो जाएँ।' (सी.डब्लू.एम.जी. खण्ड १५, पृष्ठ २८) १८ अप्रैल, १९१९ को रोलेक्ट एक्ट के विरोध में शुरू हुए सत्याग्रह के दौरान 'हिन्दी लिटरेरी कॉन्फ्रेन्स' को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था कि इस समय देश में चल रहा सत्याग्रह हिन्दी भाषा के मुद्दे के लिए भी है। सत्याग्रह सत्य के लिए लड़ाई है और अगर हम लोगों में सत्य के प्रति सम्मान की भावना है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी एकमात्र ऐसी भाषा है, जिसे हम लोग राष्ट्रभाषा बना सकते हैं। हिन्दी के प्रति गाँधी जी की दृढ़ आस्था ख़िलाफ़त आंदोलन को समर्थन देने के साथ ही क्षीण हो गई। हिन्दू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ करने की भावना के बीच गाँधी जी का हिन्दी प्रेम हिन्दी-उर्दू मिश्रित 'हिन्दुस्तानी' में बदल गया। इसका प्रतिफल यह हुआ कि सन् १९४७ में साम्प्रदायिक आधार पर देश-विभाजन के साथ हिन्दुस्तानी भाषा का आंदोलन ईंट की छल्ले की तरह भरभराकर गिर पड़ा। इससे हिन्दी की व्यापक क्षति हुई। हिन्दी प्रचार-प्रसार की गति को धक्का लगा।

ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से हिन्दी अभी उबरी भी नहीं थी कि नीति-निर्माताओं के द्वारा छली गई। उसकी आत्मा पर चोट की गई। इससे पूर्णतः समाप्त करने के षड्‌यंत्र के तहत यह अँग्रेजी की पिछलग्गू बना दी गई। संविधान के अनुच्छेद ३४७ के अनुसार जब संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी निर्धारित की गई तो उसी समय एक रणनीति के तहत उसी अनुच्छेद के खण्ड २ में यह प्रस्ताव जो दिया गया कि संविधान के आरम्भ के पन्द्रह वर्ष की अवधि तक उन कार्यों के लिए अँग्रेजी भाषा प्रयोग की जाती रहेगी, जिसके लिए वह अब तक प्रयोग की जाती रही है। इस प्रकार अगले पन्द्रह वर्षों के लिए हिन्दी का सम्पूर्ण रूप से प्रयोग टाल दिया गया। इतना ही नहीं १९६५ के बाद भी हिन्दी की यथास्थिति बनी रहे, इसके लिए एक षड्‌यंत्र रचा गया। पूर्व प्रस्ताव की अवधि होने के दो वर्ष पूर्व ही १९६३ में संसद ने एक प्रस्ताव पारित किया कि हिन्दी के साथ अँग्रेजी तब तक बनी रहेगी जब देश का छोटे-से छोटा राज्य भी हिन्दी को स्वीकार नहीं कर लेता। ऐसा हमारे राजनेताओं ने अपनी कुर्सी के ख़ातिर क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक वोट बैंक को ध्यान में रख कर एक साज़िश के तहत

किया। नीति-निर्माताओं ने हिन्दी की प्रभावी और सर्वसमावेशी क्षमता पर अविश्वास किया। हिन्दी किसी एक क्षेत्र की भाषा नहीं है। इसकी किसी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ न तो कोई प्रतिस्पर्धा है और ना ही वैमनस्य का भाव। इस बात को अगर डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के शब्दों में कहें तो - 'दूसरी प्रादेशिक भाषाओं से हिन्दी की कोई प्रतियोगिता-प्रतिस्पर्धा नहीं है, कोई विरोध-वैमनस्य नहीं है। हिन्दी हमारे देश की प्रतिनिधि भाषा है, सम्पर्क भाषा है; हिन्दी है पहचान हमारी, हिन्दी हम सबकी परिभाषा। हमारा राष्ट्र एक है, नागरिकता एक है, तो भाषा भी प्रतिनिधि भाषा के रूप में होनी चाहिये। हिन्दी भारत की वही सम्पर्क भाषा प्रतिनिधि भाषा है' (हिन्दी : देश और विदेश में, सम्पादकीय साहित्य अमृत, विश्व हिन्दी सम्मेलन विशेषांक, जुलाई २००७, पृ. ६)। आख़िर क्यों संघ की राजभाषा हिन्दी के साथ अँग्रेजी प्रयोग की अनिवार्यता बरकरार रखी गई? इस संबंध में दुनिया के विकसित देशों से सीख लेनी चाहिये। क्या यह सत्य नहीं है कि 'हिब्रू' को जब राजभाषा के रूप में इज़रायल ने स्वीकार किया तो वह राजभाषा बनने की एक भी अनिवार्य शर्त पूरी नहीं करती थी। उसमें शासन-सत्ता में प्रयुक्त होने वाले शब्द नहीं थे और वैज्ञानिक या मानवीय विषयों की पुस्तकें भी नदारद थीं। 'हिब्रू' लैटिन की तरह मृत भाषा थी। लेकिन इज़राइलियों की दृढ़ इच्छा-शक्ति और प्रबल राष्ट्र-प्रेम की भावना ने 'हिब्रू' को राजभाषा के आसन पर बैठाया।

आज जिस अँग्रेजी को इतनी अहमियत दी जा रही है, वह खुद ही संकल्पों और संघर्षों के बीच से निकल कर आई है। अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य तक इँग्लैंड की राजभाषा फ्रेन्च थी। अँग्रेजी को राजकाज की भाषा बनाने में अँग्रेजों को कठोर कदम उठाना पड़ा। अँग्रेजी को प्रभावी बनाने और राजकाज में स्थापित करने की अपनी दृढ़ इच्छा-शक्ति का परिचय देते हुए वहाँ की संसद ने सन् १७३१ में एक कठोर कानून बनाया। इस कानून में यह प्रावधान किया गया कि जो लोग न्यायालयों में फ्रेन्च भाषा में बहस करेंगे उन्हें ५०पौंड का जुर्माना देना होगा। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ दशकों में अँग्रेजी का साम्राज्य इँग्लैंड में स्थापित हो गया। यह अँग्रेजों की दृढ़ इच्छा-शक्ति का प्रतिफल था।

हिन्दी को जो सम्मान और स्थान अपने देश में मिलना चाहिए, वह विदेशों में मिला है या मिल रहा है। भले ही इसका कारण आर्थिक उदारवाद से उत्पन्न बाज़ारवाद रहा हो। प्राप्त आँकड़ों के अनुसार आज लगभग १२५ विदेशी विश्वविद्यालयों या उच्च शिक्षा-केन्द्रों में हिन्दी पढ़ाई-सिखाई जा रही है और हिन्दी में विदेशी विद्वानों द्वारा महत्वपूर्ण शोध-कार्य भी किये जा रहे हैं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ विदेशी विद्वान तो हिन्दी को अपनी मातृ-भाषा तक मानते हैं। चेकोस्लोवाकिया के प्रसिद्ध कवि-लेखक डॉ. ओदोलेन स्मेकल जिन्हें भारत में सर जार्ज ग्रियर्सन सम्मान से विभूषित किया गया था, हिन्दी को अपनी मातृ-भाषा मानने लगे थे। दूसरे विदेशी विद्वान गिलक्राईस्ट ने सबसे पहले हिन्दी का व्याकरण अंग्रेजी भाषा में १९वीं शती के पहले दशक में लिखा और बाद में पादरी एथारिटन का 'भाषा भास्कर' सन् १८८० में प्रकाशित हुआ। यह इतना महत्वपूर्ण काम था कि इसका प्रभाव प्रमुख वैयाकरण कामता प्रसाद गुरु द्वारा लिखित 'हिन्दी व्याकरण' में देखा जा सकता है। केवल अँग्रेजी विद्वानों ने ही हिन्दी को विश्व-क्षितिज पर प्रतिष्ठित नहीं किया फ्रांस, पुर्तगाल और डच लोगों ने भी हिन्दी की ज्ञान-रश्मि को अपनी-अपनी भाषाओं में प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया। आज से लगभग ३०० वर्ष पहले डच भाषा में लिखा गया हिन्दी का व्याकरण इस तथ्य को प्रमाणित करता है। यहाँ विदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार और विद्वानों द्वारा किए जा रहे शोध-कार्यों की चर्चा करना इसलिए मैंने ज़रूरी समझा क्योंकि जिस हिन्दी को अपने देश में हेय दृष्टि से देखा जाता है, यदि वह ऐसी ही होती तो न तो विदेशी विद्वानों को प्रभावित करती और ना ही विदेशी धरती पर अपनी बुलंदी के झण्डे गाड़ पाती। हिन्दी के राष्ट्र-व्यापी प्रभाव और प्रयोग पर मुग्ध हो कर सन् १८०७ में टॉमस रोचक ने गिलक्रिस्ट को लिखा था - 'मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक या बंग से सिंध के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जग़ह ऐसे लोग मिल जाएँगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते होंगे' (डॉ. सभापति मिश्र, राष्ट्रीय अस्मिता और हिन्दी, सम्मेलन पत्रिका, उत्तर शती विशेषांक - १, पृ. ३०)।

हिन्दी को अपनों से संघर्ष करना है, गैरों में वह दम है ही नहीं जो हिन्दी के ज्ञान-रथ को रोक सकें। अपनों से मेरा मतलब भारत के उन लोगों से है जो खाते हैं हिन्दी का और बखान करते हैं अँग्रेजी का। अपने देश में कुछ मुट्ठी भर मैकाले-पुत्र हैं, जिन्हें भारतीयता और मातृ-भाषा से चिढ़ है

और ऐसे लोग विदेशी संस्कृति के मोहजाल में फँसे हुए हैं। भारत स्वतंत्र हुआ लेकिन ज़बान की गुलामी नहीं गई। यही ज़बान की गुलामी कुछ लोगों को अँग्रेजी-प्रेम से मुक्त नहीं होने देती। 'ज़बान की गुलामी ही असली गुलामी होती है। हर शब्द एक वातावरण होता है। अँग्रेजी शब्दों का वातावरण इस देश का वातावरण नहीं है। ऐसी स्थिति में हिन्दी ही इस देश की राष्ट्र-भाषा हो सकती है' (राष्ट्रीय एकता और हिन्दी, विष्णु प्रभाकर, पृ. ४४)। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि 'हिन्दी' विरोधी वर्ग की उत्पत्ति हिन्दी भाषी या भारतीय संस्कृति के संवाहक माता-पिता की कोख से ही हुई है। ऐसे लोग हिन्दी के लिए ज़्यादा ख़तरनाक हैं। हिन्दी का सुव्यवस्थित ज्ञान हासिल न करते हुए भी हिन्दी की सभी विधाओं में टाँग अड़ाते रहने वाले लोगों के ख़िलाफ प्रख्यात आलोचक डॉ. नामवर सिंह कठोर टिप्पणी करते हैं : 'ये लोग अँग्रेजी में ही सोचते हैं, अँग्रेजी का ही खाते हैं। पश्चिम की नकल करते हैं, और अपने समाज से कट कर वहीं के समाज में अपनी जड़ें तलाशते हैं। इस तबके ने जो नया दर्शन गढ़ा है उसे मैं खण्ड-खण्ड पाखण्ड कहता हूँ। यह दर्शन सिर्फ़ अँग्रेजी के वर्चस्व और पश्चिम विचारधारा की रक्षा करता है, बल्कि परोक्ष रूप से नवउपनिवेशवाद का हिमायती भी है। इसलिए हिन्दी का प्रश्न सिर्फ़ अपनी भाषा के प्रति मोह का ही नहीं है, बल्कि एक किस्म के उपनिवेशवादी सोच के विरुद्ध लड़ने का भी। दुर्भाग्य है कि इनमें से ज़्यादातर अँग्रेजी दाँ बौद्धिक हिन्दी भाषा क्षेत्र के ही हैं। इसलिए मैं कहता हूँ कि हिन्दी को आज सबसे बड़ा ख़तरा हिन्दी क्षेत्र में जन्में लेकिन यहाँ की ज़मीन से कटे इन अँग्रेजी दाँ बौद्धिकों से है (हिन्दी इलाके के अँग्रेजी दाँ ही सबसे बड़े दुश्मन, नामवर सिंह, राष्ट्रीय सहारा, हस्तक्षेप परिशिष्ट, १४ सितम्बर, २००२)। इसलिए यह कहना कि आज हिन्दी अपने घर में ही बेघर हो गई है, अनुचित नहीं होगा। हिन्दी को अपने ही घर से निर्वासित करने का अक्षम्य कार्य हिन्दी माता के अपने सपूतों ने अधिक किया। आज हिन्दी के प्रति हीन भावना का एक-मात्र कारण अपनी मातृ-भाषा के प्रति गौरव और गर्व की भावना की कमी है। प्रत्येक वर्ष हिन्दी दिवस का नगाड़ा बजाने से, लच्छेदार भाषणबाजी करने से या कर्मचारी और अधिकारी की कुर्सी के पीछे दीवारों पर या पोस्टरों पर मोटे अक्षरों में यह लिख देने से - 'हिन्दी आप नहीं लिखेंगे तो कौन लिखेगा', 'हिन्दी में काम करना आसान है', हिन्दी की उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। इसके लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति को संकल्पित करना होगा, तभी हिन्दी राष्ट्रभाषा के राजसिंहासन पर विराजमान होगी।

कर्म और ज्ञान

डा. हरनेक सिंह गिल

कर्म और ज्ञान ही
खोलते हैं नए-नए रास्ते।
बनने लगते हैं तरह-तरह के
संयोग और वियोग।
बढ़ने लगता है अपने ऊपर विश्वास
और दिखने लगती है
सामने खड़ी कार्य सिद्धि।
संकल्प जब जुड़ता है कर्म से
तो होता है उत्पादन।
आकार लेती है कृति
सामने आती है रचना।
भूल न कर
इस जीवन में,
संबंध भी काम आते हैं।
कई बार,
प्रतिभा संबंधों से ही आती है बाहर।
मनुष्य जान ले
जीवन में कर्म और ज्ञान है अनिवार्य।
मुझे मिले या उसे
इनका प्रतिफल है अपरिहार्य।
धीरे-धीरे,
कर्मशील मन ही पा जाता है सफलता।
और उदास आलसी मन
निराशा में डूबा, घर बैठा ही रह जाता है।

सुर्ख़ गुलाब और ज़िन्दगी

डॉ. इन्द्रा भटनागर

सुनन्दा ने बचपन में आदम और ईव की कहानी सुनी थी। ईश्वर ने उन्हें ईडन गार्डन में छोड़ने के बाद ज्ञान का फल खाने का निषेध किया था। न जाने कहाँ से आये शैतान सर्प ने ईव को प्रेरित किया और ईव के आग्रह पर आदम ने ज्ञान का फल तोड़ लिया, परिणामस्वरूप उन्हें उस बगीचे से निर्वासन मिला। शायद ईश्वर ने तभी 'ईव' अर्थात् समस्त नारी-जाति को श्राप दे दिया कि सम्पूर्ण आत्म-समर्पण के बाद भी उसे पुरुष से केवल आंशिक समर्पण ही मिल पायेगा। पुरुष के अहम् से टकरा कर नारीत्व की लहरें बार-बार वापिस लौटती रहेंगी। सुनंदा सोचती है, शायद तभी श्रद्धा के सम्पूर्ण समर्पण के बाद भी मनु उसे गर्भावस्था में अकेले छोड़ कर शांति की खोज में निकल पड़े परंतु वह शांति उन्हें तर्क नही, आस्था श्रद्धा के समीप ही प्राप्त हुई।

उसने अपने पलंग के सामने की खिड़की खोली। बगीचे में उसके लगाये लाल सुर्ख़, गुलाबी, पीले और श्वेत गुलाब की क्यारियों से महकती हवा के झोंके ने कक्ष में घुस कर उसे सुगंध से भर दिया।

उसकी दृष्टि गुलाबी गुलाब के फूलों पर अटक गई। वह कहीं सुदूर अतीत में खो गई। उसका गुलाबी गुलाब-सा बचपन, उसके सम्मुख फ्राक पहने, दोनों ओर दो चोटियों में गुँथेलाल रिबन लगाये, बगीचे में रंग-बिरंगी तितलियों के पीछे छोटे-छोटे पैरों से दौड़ती सात-आठ वर्ष की बच्ची की आकृति घूम गई। माता-पिता के स्नेहिल वातावरण में बीतता बचपन, जहाँ उसे सुनाई देता दादी का स्वर 'अरे ! इसे लाड़-प्यार से मत बिगाड़ो। इसे दूसरे घर जाना है। क्या जाने कैसा घर मिले?'....धीरे-धीरे एक-एक चरण रखती वह यौवन की देहली पर पहुँच गई। गुलाबी गुलाब सुर्ख़ होने लगे। सुहाने स्वप्न, मादक मधुर गंध, मादकता से जैसे उसकी आँखों और गालों में सुर्ख़ गुलाबों की लाली फैलने लगी। रंगीन तितलियों के पीछे भागने के स्थान पर वह स्वप्न और कल्पनाओं के इन्द्रधनुषी सुहाने सपनों में खोने लगी। एम.ए. में उसने विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में डिग्री प्राप्त की, फिर राजकीय महाविद्यालय में व्याख्याता पद पर उसका चयन हो गया। जब अभिषेक से उसका विवाह हुआ तो उसे लगा उसके चारों ओर फैले गुलाबों का रंग और भी सुर्ख़ हो गया। अभिषेक एक कारखाने में मैनेज़र था। समय पंख लगा कर उड़ने लगा। एक महीने वे नैनीताल में रहे। फिर छः महीने कब बीत गये पता ही नहीं पड़ा। उसके मन और आँखों में ही नहीं, शरीर में गुलाब खिलने लगा था। प्यारा गुलाब जो कुछ ही समय में खिल कर उसकी गोद को महका देगा।

उसे याद आया वह दिन जो उसके सुर्ख़ गुलाबों, महकते गुलाबों के लिए बवंडर बन कर आया था। उस दिन उसे कॉलेज में देर हो गई थी। आते ही उसने नाश्ता बनाया। चाय के लिए अभिषेक की प्रतीक्षा कर रही थी। अभिषेक खुशी से भरा आया था 'नंदा, मेरे मित्र सुधाकर का पत्र आया है। उसने मुझे अमेरिका बुलाया है। संपन्न बनने की मेरी बचपन की आकांक्षा पूर्ण हो जाएगी। मेरा कैरियर बन जाएगा।'

अभिषेक को खुश देख कर उसने कहा 'यह बहुत खुशी की बात है, पर वहाँ किस सिलसिले में जा रहे हो?'

'उसका सबका उसने प्रबंध कर रखा है। मैं बहुत जल्दी जाना चाहता हूँ, नंदा ! बस पंख लगा कर उड़ जाना चाहता हूँ।'

उसने हँसते हुए कहा था 'अभि, महत्वाकांक्षा की इस आँधी में धरती से अपने पैर उखड़ने मत देना।'

'उसे तुम कस कर पकड़े रहना। पर सबसे बड़ी समस्या है पैसों की।'

'जाने में पैसे तो काफी लगेंगे।'

'तुम ऐसा करो नंदा, अपने पापा से कह कर, रुपयों का प्रबंध करवा लो। मैं शीघ्र ही चुका दूँगा।'

'नहीं अभि, मैं पापा से पैसों के लिए नहीं कह सकती। हमारे विवाह में पापा ने अपना सारा प्राविडेण्ट फंड लगा दिया। तभी माँजी बोलीं 'मैं तो अपनी बहन की देवरानी की लड़की से शादी कर

रही थी। खूब ज़ेवर और रुपया दे रहे थे वे लोग। उसका रंग ही तो साँवला था। कुछ नाक-नक्शा मोटा था, पर अभिषेक तो जैसे तुम्हारी सुंदरता पर लट्टू हो गया था। हमारी तो बात सुनी नहीं।'

सुनंदा ने अभिषेक से कहा 'अभि, तुम कुछ महीने रुक जाओ न। फिर मेरा प्राविडेण्ट फंड होगा, कुछ पैसा वेतन से बचा लेंगे, शेष ज़ेवर बेच कर पूरा कर लेंगे। नन्हा फूल जो खिलने वाला है, उसे देख कर जाओ न?'

'नहीं नंदा, मैं इतनी प्रतीक्षा नहीं कर सकता।'

इसी बात को लेकर तनाव बढ़ता गया। वह पिता की विवशता जानती थी। स्वाभिमान खोकर रुपये माँगना उसके स्वभाव के विपरीत था। माँजी और अभिषेक के रुक्ष व्यवहार तथा व्यंग्य वाणों से उसकी आत्मा आहत हो गई थी। कल तक जो प्यार का दावा करते थे, आज तलाक का नाम लेने लगे थे।

वह देख रही थी आदमी जब महत्वाकांक्षा की प्राप्ति के लिए तीव्र दौड़ लगाता है, तो उसे अहसास नहीं होता कि वह अपने चारों ओर के परिवेश को जिस द्रुतगति से काटता हुआ भाग रहा है, उससे उस परिवेश और उससे जुड़े सम्बंधों को कितनी पीड़ा, कितना दर्द और जख़्म देता जा रहा है। कितना संवेदनाशून्य हो जाता है !'

उस दिन झगड़ा बढ़ गया। अभिषेक ने जब उससे कहा 'या तो पापा से पैसे लेकर आओ अन्यथा तलाक देकर मेरा पीछा छोड़ो।' यह उसके स्वाभिमान पर ऐसी चोट थी, जो वह सह नहीं पाई। उसने कहा 'सम्बंधों के धागे इतने कच्चे नहीं होते, अभि ! मैं तलाक नहीं दे सकती। आख़िर मैं माँ बनने वाली हूँ। अपने बच्चे से कैसे कह सकूँगी कि वह एक तलाकशुदा माँ का बेटा है। लेकिन मैं तुम्हारे पथ की रुकावट भी नहीं बनूँगी। तुम रुपये प्राप्त करने के लिए अपने ज़मीर को बेच कर कुछ भी करने को स्वतंत्र हो। पर जाते हुए इतना अवश्य कहूँगी कि ज़मीर को बेच कर खरीदा हुआ भविष्य गौरवशाली नहीं होता।'

एक सप्ताह वह नीलमा के पास रुकी। नीलिमा रिश्ते में उसकी बहन थी तथा उसके साथ ही उसी महाविद्यालय में प्रवक्ता थी। प्रयत्न करके उसने अपना स्थानान्तरण करा लिया। उसके पिता इस दुःख को सहन नहीं कर पाये। उन्हें हार्ट-अटैक हुआ और वह अकेली रह गई।

उसके जीवन में चारों ओर खिले लाल सुर्ख़ गुलाब पीले पड़ गये। उनमें व्याप्त उमंगों और उल्लास की सुर्ख़ी पीली पड़ गई। उसने अपनी बगिया में गुलाबी सुर्ख़ गुलाबों के साथ-साथ पीले गुलाब भी उगा लिये।

धीरे-धीरे समय बीतने लगा। उस समय में उसने कितना सहा, कितने दुःख का अनुभव किया, अकेलेपन और रिक्तता की यातना के मध्य कितनी छटपटाई ! उसे लगता था जैसे संसार-सागर की उछलती अथाह जल-राशि में उसके जीवन की नाव बही चली जा रही है, बिना मल्लाह के। चारों ओर अथाह जल-राशि, ऊपर अनन्त आकाश और चारों ओर भयानक बादल और आँधी। वह लक्ष्यहीन भटक रही है। फिर अंशुल के रूप में जैसे उसे एक लक्ष्य, एक किनारा मिल गया। चारों ओर चलती भयानक आँधी थम गई, उछलती जल-राशि शांत हो गई और उसके जीवन की नाव मंद गति से बहने लगी।

सत्रह वर्ष बीत गये। अंशुल इंजीनियरिंग के प्रथम वर्ष में पहुँच गया। उसने कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखा। अतीत से नाता तोड़ कर वह वर्तमान में जी रही थी। परंतु उस दिन नीलिमा ने आकर शांत और स्थिर जलराशि में जैसे कंकरी डाल कर ज्वार उठा दिया। नीलिमा के शब्द बार-बार उसके कानों में गूँज रहे थे 'सभी को एक न एक दिन अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। अभिषेक की वह नई पत्नी अपना ज़ेवर और कुल कैश भी लेकर एक इटालियन युवक के साथ भाग गई। यहाँ घर में अकेली बुढ़िया मौत के मुँह मे पड़ी है। कोई देखने-पूछने वाला नहीं।'

उसका मन बार-बार अतीत की ओर भाग रहा है। बार-बार वह सोचती है उसे अभिषेक या उसकी माँ से क्या लेना-देना है ! वह समझ नहीं पा रही, सम्बंधों का यह कैसा चक्रव्यूह है, जिससे वह मुक्त नहीं हो पा रही ! पर उसने स्वयं संबंधों की कारा से कब मुक्ति चाही थी ! वह अपने मस्तिष्क से इन सभी विचारों को झटक देना चाहती थी परंतु उसके सभी प्रयत्न असफल हो रहे थे। धीरे-धीरे अँधेरा घिर आया। अपने विचारों में लीन उसे बत्ती जलाने की भी सुध नहीं थी। खट् की आवाज़ से जब स्विच ऑन हुआ और कमरा रोशनी से नहा उठा तो चौंक कर उसने सिर उठाया।

अंशुल की आवाज़ आई 'मम्मा, तुमने लाइट भी नहीं जलाई ! क्या सोच रही हो? कैसा पीला चेहरा हो रहा है? अपना पूरा चैक-अप करवा लिया न? रिपोर्ट कब मिलेगी?'

'पीला चेहरा ! हाँ, आजकल वह बहुत थकी-थकी रहती है। सारे बदन में दर्द रहता है। मैं ठीक हूँ अंशुल। चैक-अप करवा लिया है। रिपोर्ट दो-तीन दिन में मिल जायेगी। मैं एक सप्ताह के लिए नीलिमा दीदी के पास जाना चाह रही हूँ'

नंदा का मुख ऊपर उठाते हुए अंशुल बोला 'पर तुम्हारी तबियत तो ठीक नहीं है ! मम्मा, मैं साथ चलूँ?' अंशुल के प्यार-भरे शब्दों ने अंदर तक जैसे उसकी आत्मा को भिगो दिया। 'नहीं अंशुल, मैं ठीक हूँ। तू चिन्ता मत कर।'

सत्रह वर्ष बाद वह अभिषेक के दरवाज़े पर खड़ी हुई तो उसका मन बोझिल हो उठा। दरवाज़े के बाहर लगी घंटी टूटी थी। दरवाज़े भी जर्जर हो रहे थे। बंद नहीं थे। हाथ के धक्के से खुल गये। वह अंदर गई तो सब कुछ अस्त-व्यस्त दिखाई दे रहा था। आँगन पार कर माँ के कमरे में पहुँची तो एक जर्जर काया पलंग पर पड़ी थी। उसके आने की आहट सुन उसमें कुछ हलचल हुई 'कौन? कौन है?'

वह बोली 'मैं सुनंदा हूँ माँजी।'

'सुनंदा, बहू ! सुनंदा, तू सचमुच सुनंदा है या मेरा वहम् है !'

'मैं सचमुच ही सुनन्दा हूँ, माँजी।'

माँजी ने उसका हाथ कस कर पकड़ लिया 'मैंने तेरे साथ बड़ा अन्याय किया था बहू, उसी का फल भोग रही हूँ। रुपया बहुत है परंतु अपना कोई नहीं।'

'पर माँजी, आपने नौकर और नर्स क्यों नहीं रख लिए?'

'नौकर तो बहुत रखे थे परंतु वे कुछ दिनों में ही भाग जाते हैं, और जो हाथ लगता है लेकर चलते बनते हैं। नर्स रखी थी, वह भी छुट्टी लेकर गई थी, एक सप्ताह से नहीं आई।'

'फिर पथ्य, औषधि कौन देता है?'

'पास की बाई को रुपये देती हूँ, उसकी बेटी खाना और ज़रूरी वस्तुएँ ला देती है।' उनकी आँखों से पश्ताचाप के आँसू झर-झर झर रहे थे।

उन्हें खरी-खोटी सुनाने की इच्छा थी परंतु उनकी यह स्थिति देख कर उसका हृदय द्रवित हो गया और शब्द गले में ही अटक गये। फिर शायद भावावेग से वे मूर्छित हो गईं। पानी लेने गई तो रसोईघर में बर्तन और डिब्बे बिखरे पड़े थे। उसने सामने के कमरे की सफाई कर पलंग पर धुली चादर बिछाई, फिर स्पंज कर माँजी को लिटाया। बाई की बेटी आई तो दूध मँगाया, फिर स्वयं जाकर बाजार से फल लाई। माँजी बार-बार मूर्छित हो रही थीं। उनकी गंभीर स्थिति को देख कर डॉक्टर को बुलाया। उसने परीक्षण कर इंजैक्शन लगाया, औषधि लिखी फिर बाहर फीस के रुपये लेते हुए कहा 'इनके जीवन का कोई भरोसा नहीं है। सप्ताह-दस दिन कठिनाई से ही निकलेंगे।'

सुनंदा सोचने लगी कि वह क्या करे? उसने माँजी से पूछा कि आप इतनी अस्वस्थ थीं तो अमेरिका से बहू और अभि को क्यों नहीं बुलाया?'

'मैंने नर्स से पत्र लिखवाया था परंतु या तो उसने डाला नहीं या जवाब नहीं आया। बहू तो समझती है रुपये देकर उसके घरवालों ने हमें खरीद लिया। अब तो सुना है वह किसी के साथ इटली चली गई।'

उसने माँजी से पिछला पत्र लेकर टलीफोन नम्बर देखा, फिर फोन किया। सत्रह वर्ष पश्चात् भी जब अभिषेक का स्वर 'हैलो' उसके कानों में पड़ा तो मन मोम-सा पिघलने लगा। उसने संयत होकर कहा 'देखिये, आपकी माँ मृत्यु-शैया पर पड़ी हैं। दो-चार दिन की मेहमान हैं। यदि अंतिम समय आप उनसे मिलना चाहते हैं तो तुरंत आ जाइये।'

अभिषेक ने पूछा 'आप, आप कौन बोल रही हैं?'

'जी, जी, मैं, मैं. . . .देखिये आप तुरंत चले आइये।'

'मैं फर्स्ट फ्लाइट से आ रहा हूँ।'

न जाने क्यों उसका हृदय तीव्र गति से धड़कने लगा। वह सोचने लगी, उसे यह क्या हो रहा है ! वह क्यों इतनी भावुक होती जा रही है ! जीवन भावुकता के आधार पर नहीं जिया जाता। एक बार वह अभिषेक को अवश्य आड़े हाथों लेगी। पर वह अभिषेक का सामना कैसे करेगी !' क्या उसके

आने से पूर्व ही चली जाए। पर माँजी को इस हालत में छोड़ कर कैसे जाए? जिस पौत्र को माँजी ने देखा नहीं, मृत्यु से पूर्व उसे देखने की कितनी छटपटाहट है, क्या यही रक्त सम्बन्ध है !'

दो दिन बाद जब अभिषेक आया तो उसके निस्तेज तथा हताश चेहरे को वह दूर से देखती रह गई। मुस्कुराते उमंगों तथा सुनहरे स्वप्न देखने वाले युवक के स्थान पर वह टूटा-थका व्यक्ति दिखाई दे रहा था, जिसकी आँखों में उदासी और वीरानगी झाँक रही थी। माँजी ने जब उसे आवाज़ दी तो वह वहाँ जाने का साहस जुटाने लगी। इतने वर्षों बाद अभिषेक के सामने जाने में उसे न जाने कैसा संकोच, कैसी झिझक आ रही थी। बड़ा साहस जुटा कर वह वहाँ पहुँची। शिष्टाचारवश उसने नमस्कार की।

'मैं अपने व्यवहार पर बहुत लज्जित हूँ नंदा।'

'देखिये, आप सफ़र से आये हैं, थके हैं, गरम पानी रखा है, पहले नहा लीजिये।'

माँ को औषधि देकर वह अपना सामान समेट रही थी, तभी अभिषेक आया।

'तुम, तुम जा रही हो सुनंदा?'

'हाँ अभि, अब तुम आ गये हो। माँजी का उत्तरदायित्व तुम्हें सौंप कर मैं निश्चिन्त हो गई हूँ।'

'टेलीफोन पर तुम्हारी आवाज़ सुन कर जो आश्चर्यमिश्रित हर्ष हुआ, बता नहीं सकता। तुम्हारे साथ हमने जैसा व्यवहार किया उसे देखते हुए तुम्हें रोकने का कोई अधिकार नहीं रह गया है। पर....'

'देखो अभि ! अंशुल अकेला होगा। मैं उससे नीलिमा दीदी के पास एक सप्ताह रुकने का कह कर आई थी। मैं नहीं पहुँची तो वह घबरा जायेगा।'

'तुमने अंशुल को मेरे विषय में क्या बताया नंदा?'

'यही कि भीड़ में तुम खो गए। महत्वाकांक्षा की आँधी तुम्हें उड़ा कर मुझसे बहुत दूर ले गई।'

वह चलने लगी तो माँजी उसके दोनों हाथ पकड़ कर रोने लगीं। उसे तभी छोड़ा जब उसने अंशुल के साथ आने का वायदा किया। अभिषेक उसे स्टेशन तक छोड़ने आया। ऊपर से कठोरता का कवच पहनने पर भी उसके अन्तर्मन की गहराइयों में कहीं उसके प्रति कोमल भाव छिपा था, जिसे वह नष्ट नहीं कर पा रही थी।

घर पहुँच कर रात्रि को उसे नींद नहीं आई। सुबह कॉलेज जाते हुए अंशुल बोला 'मैं कॉलेज जाते हुए आपके चैक-अप की रिपोर्ट लेता चला जाऊँगा। आज एक बजे के बाद कोई क्लास नहीं है इसलिए जल्दी ही आ जाऊँगा।'

सुनंदा बोली 'नहीं अंशुल, मैं ले आऊँगी। मुझे डॉक्टर से कुछ बात भी करनी है।'

'पर ले आना मम्मा। तुम अपनी चिन्ता बिल्कुल नहीं करतीं। पर्ची और नम्बर भी नहीं दे गईं, इस कारण मैं भी नहीं ला सका।'

सुनंदा जब चैक-अप की रिपोर्ट लेने पहुँची तो डॉक्टर ने कहा 'देखिये सुनंदा जी, बहुत दुःख के साथ मुझे कहना पड़ रहा है आप ब्लड कैंसर की द्वितीय स्टेज पर पहुँच रही हैं, फिर भी यदि आपने ठीक से उपचार कराया तो ६० से ६५ प्रतिशत तक ठीक होने के चांसेज हैं।'

सुनंदा को लगा जैसे पीले गुलाब श्वेत हो गये हैं। उसे चारों ओर से श्वेत गुलाबों ने घेर लिया है। अनासक्ति, पवित्रता तथा मृत्यु का प्रतीक श्वेत गुलाब ! उसने सोचा अच्छा हुआ उसने अंशुल को रिपोर्ट लेने नहीं भेजा। अपने को संयत कर वह घर आई। न जाने कैसी शिथिलता तथा दुर्बलता उसके शरीर में फैल गई। उसने फ्रिज से बोतल निकाल एक गिलास ठंडा पानी पिया। फिर पलंग पर लेट गई पर उसका मस्तिष्क निरन्तर क्रियाशील रहा। वह सोच रही थी अंशुल अभी इंजीनियरिंग के प्रथम वर्ष में है। मेरी बीमारी और मृत्यु से वह टूट कर बिखर जायेगा। उसे अभी संरक्षण की आवश्यकता है। उसने सोच रखा था कि अभिषेक ने उसके नारीत्व और पत्नीत्व को लांछित किया था, उसके जीवन में खिले उमंगों के सुर्ख़ लाल गुलाबों को नोंच कर उसे अकेलेपन का अभिशाप दिया था, उसके लिए वह उसे कभी क्षमा नहीं करेगी। माँजी की मृत्यु के बाद वह वहाँ नहीं रुकेगी। परंतु अब उसे सोचना पड़ेगा। अंशुल की ख़ातिर उसे क्षमा करना ही पड़ेगा। यही नहीं, उसे अंशुल के हृदय में पिता के प्रति नफ़रत न उत्पन्न हो, इसका भी ध्यान रखना है। नफ़रत उन दोनों के संबंधों में कटुता उत्पन्न कर सकती है, जब कि अंशुल को संरक्षण की आवश्यकता है और अभिषेक के टूटे व्यक्तित्व को एक सहारे की। उसने निश्चय किया कि अब अंशुल को सब कुछ बताने का समय

आ गया है। दोपहर को अंशुल कॉलेज से लौटा तो आते ही उसने पूछा 'मम्मा रिपोर्ट ले आईं? डाक्टर ने क्या कहा?'

उसने मुस्कुराते हुए कहा 'वही, आराम करो, दवा खाओ। तुम खाना खा लो। मुझे तुमसे कुछ आवश्यक बात करनी है।'

'ओह मम्मा ! तुम उत्सुकता क्यों उत्पन्न कर देती हो? अब मुझसे खाना भी नहीं खाया जायेगा।'

खाने के बाद उसने कहा 'अंशुल ! मैं नीलिमा दीदी के पास नहीं, तुम्हारी दादी के पास गई थी। उसके बाद उसने अपने जीवन में घटी समस्त घटनाएँ सुना दीं। अंशुल धैर्यपूर्वक सब कुछ सुनता रहा। फिर बोला 'मम्मा ! तुम्हारे साथ बहुत अन्याय हुआ, फिर इतने वर्षों बाद तुम वहाँ क्यों पहुँची थीं?'

'अंशुल, हमारा मन मर्यादा तथा संस्कारों से इस प्रकार जकड़ा है कि हम अंदर ही अंदर टूटते हैं, जुड़ते हैं, परंतु उस बंधन से अपने को मुक्त नहीं कर पाते।'

'मम्मा, तुम अपने निर्णय भावुकता के आधार पर करती हो ! यह बताओ, तुम मुझसे क्या अपेक्षा करती हो? मुझे केवल तुम्हारी भावनाओं का ध्यान है।'

'बेटे ! रक्त का संबंध बहुत दृढ़ होता है, उसी पर समस्त सामाजिक ढाँचा खड़ा है। आज माँजी मृत्यु से पूर्व एक बार तुम्हें देखने को व्याकुल हैं। जहाँ तक तुम्हारे पिता का संबंध है, वे एक हताश और टूटे हुए व्यक्ति हैं। पश्चाताप और अकेलेपन की यातना भोग रहे हैं। उन्हें सहारे की आवश्यकता है। घृणा किसी अन्याय की स्वाभाविक प्रतिक्रिया हो सकती है, परंतु उसका प्रतिकार नहीं। तुम्हें कटुता का त्याग कर उनसे मिलना है। शेष संबंध तुम्हारे स्वयं के निर्णय पर निर्भर है।'

अंशुल क्षण-भर निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा, फिर बोला 'ओह मम्मा ! यू आर ग्रेट। ऐसा उदार हृदय तुमने कहाँ से पाया ! पापा वास्तव में अभागे हैं, जिन्होंने तुम्हारा मूल्य नहीं समझा। हीरे को छोड़ कर काँच के पीछे भागते रहे।'

अंशुल और उसको देख कर माँजी का चेहरा हर्ष से ऐसे चमकने लगा जैसे उन्हें जीवन की अमूल्य निधि मिल गई। अंशुल को प्यार करते-करते अर्द्ध-मूर्छित हो गईं। वे क्षण-भर को भी अंशुल, सुनंदा तथा अभिषेक को अपनी शैय्या से दूर सहन नहीं कर पाती थीं। ऐसा प्रतीत होता था जैसे वर्षों की प्यास वे प्रत्येक क्षण में बुझा कर तृप्त हो रही थीं। उनके जीवन के शेष चार दिन शांति से बीते। पाँचवें दिन प्रातःकाल ही उनकी मृत्यु हो गई।

तेरहवीं के बाद अभिषेक सुनंदा के कक्ष में पहुँचा। उसने गंभीरता से कहा 'नंदा ! मुझे तुमसे कुछ कहना है।'

'हाँ अभि ! मुझे भी तुमसे बहुत कुछ कहना है, पर पहले तुम कहो।'

'सुनन्दा तुमने ठीक कहा था, स्वप्न और महत्वाकांक्षा के अंतरिक्ष में उड़ो परंतु यथार्थ की धरती से अपने पाँव मत उखड़ने दो और आत्म-सम्मान बेच कर खरीदा जाने वाला भविष्य गौरवहीन होता है। आज महत्वाकांक्षा के अंतरिक्ष से यथार्थ की चट्टान पर गिर कर मैं क्षत-विक्षत हो चुका हूँ। फिर हमारे दुर्व्यवहार के बाद भी तुमने जो कुछ किया, उसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। अपनों से कट कर मेरी आत्मा समृद्धि के बीच भी अतृप्ति के भँवर में फँसी थी। आज जैसे तृप्ति के सागर में डूब रही है। तुम्हारी . . . केवल तुम्हारी सहृदयता के कारण। आज मुझे लगता है, पत्नी और पुत्र अपनी ही आत्मा के अंश हैं जिनके अभाव में समृद्धि के बीच भी आत्मा अपने को अधूरा और एकाकी समझती है। सुयोग्य संतान विश्व का अमूल्य धन है। तुम्हारे समान अंशुल भी संवेदनशील, सहृदयी, विवेकी और गंभीर प्रकृति का है। मैंने सोचा था सब जान कर वह मुझसे घृणा करेगा परंतु जानती हो उसने क्या कहा 'पापा ! जो बीत चुका है उसमें हम कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। फिर उस दंश की पीड़ा क्यों भोगते रहें? हम उस अतीत से शिक्षा ले कर अपना वर्तमान और भविष्य तो सँवार ही सकते हैं।'

सुनंदा को लग रहा था जैसे बीते हुए सत्रह वर्ष की दूरी सिमट गई है। वे सत्रह वर्ष पूर्व के परिवेश में बैठे बात कर रहे हैं। अपने चैक-अप की रिपोर्ट अभिषेक को देते हुए सुनंदा बोली 'अंशुल ठीक ही कहता है अभि। मैं ब्लड कैंसर की सैकेण्ड स्टेज पर पहुँच चुकी हूँ। अभी अंशुल को पता नहीं है। जान कर वह टूट जायेगा। मेरे जीवन का कोई भरोसा नहीं है। मेरे बाद तुम्हें ही उसे सँभालना और संरक्षण देना है।'

रिपोर्ट देख कर अभिषेक के धैर्य का बाँध जैसे टूटने लगा 'नहीं, नहीं सुनंदा ! ईश्वर मुझे इतना बड़ा दंड नहीं दे सकते। मैं, मैं तुम्हें मृत्यु के मुख से भी छीन लाऊँगा। मैंने तुम्हें खोने के लिए नहीं पाया है नंदा !'

'अपने को सँभालो अभि ! सच्चाई और यथार्थ को स्वीकार करना और सहन करना सीखो।'

अभिषेक ने सुनंदा को मृत्यु की बाँहों से छीनने का हर संभव प्रयत्न किया। दिल्ली, मुंबई, बैंगलोर फिर अमेरिका, सब जगह ले गया। अंत में सभी डॉक्टरों ने जवाब दे दिया। वह विवशता के घेरे में छटपटाता रहा। सुनंदा अपने अंतिम दिन गुलाबों से भरे बगीचे वाले मकान में बिताना चाहती थी, अतः वे वापिस घर आ गये।

दो-तीन दिन से सुनंदा दर्द से व्याकुल थी। अंशुल और अभिषेक जागते रहे। रात्रि को सुनंदा ने ज़बर्दस्ती दोनों को सुलाया था। खिड़की खुलते ही आई गुलाबों क सुगंध से भरी हवा में उसने दो-तीन लम्बी साँसें लीं। अंशुल सोफे पर और अभिषेक कुर्सी पर बैठे सो रहे थे।

सुनन्दा की दृष्टि गुलाबी, फिर सुर्ख़ गुलाबों से होती हुई श्वेत गुलाबों की ओर गई। उसे लगा श्वेत गुलाबों के मध्य श्वेत परिधान में लिपटी मृत्यु आँखों में ममता भरे, बाँहें फैलाये, यह कहती हुई उसकी ओर आ रही है 'आ जा बेटी ! अपनी माँ की गोद में आ जा ! वहाँ सारे कष्ट और पीड़ाओं से मुक्त हो कर तुझे शांति मिलेगी। मैं ही तो ज़िन्दगी देती हूँ। मैंने ही तुझे इन्द्रधनुषी सतरंगी कल्पनाओं, उमंग और उल्लास के सुर्ख़ रंगों से रँगी ज़िन्दगी देकर संसार में भेजा था। संसार ने तेरे जीवन की वह सुर्ख़ लाली छीन ली। आ ! माँ की बाँहों में आजा ! उसे लगा जैसे पंख लगा कर वह उन बाँहों के घेरे की ओर उड़ रही है। माँ की शांतिमयी गोद मे विश्राम करने के लिए। क्षण-भर में ही उसका चेतनाशून्य शरीर पलंग पर गिर गया।

बहारें

जय वर्मा

बहारों से मैंने एक दिन कहा -
ढूँढती रहती हूँ तुम्हें, हो कहाँ?

घूमती रहती हो तुम यहाँ-वहाँ
सुनती हूँ सबसे बहारें आई हैं यहाँ

किसी ने कहा कि बहारें आई थीं यहाँ
कोई कहता है कि बहारें आयेंगी यहाँ

मैंने सोचा आख़िर तुम हो कहाँ
ढूँढ लिया मैंने सारा जहाँ !

धीरे से कान में बहारों ने कहा -
महसूस करो तुम्हारे आग़ोश में हैं हम यहाँ।

हिन्दी अपनाएँ, इंडिया को भारत बनाएँ

वीरेन्द्र कुमार यादव

भारतवर्ष की प्रत्येक भाषा की अपनी आन-बान और शान है। अपना स्वाभिमान है, किन्तु इन सब भाषाओं को जोड़ने वाली एक स्वर्णिम कड़ी है हिन्दी। यदि हम भाषाओं के माध्यम से भारतवर्ष की एकता सुनिश्चित करना चाहते हैं तो हिन्दी के प्रति हमारे जो कर्तव्य हैं, उनको पूरा करने में एक नई तेजस्विता अपेक्षित है।

हमारी सभी भाषाएँ प्रिय हैं। सभी भाषाएँ आदरणीय हैं। सभी भाषाओं में साहित्य है, काव्य है, इसलिए अपने-अपने प्रदेशों में ये भाषाएँ पटरानी बन कर सम्मानित होती रहें, लेकिन उन भाषाओं के हार की मध्य मणि हिन्दी ही होगी और हिन्दी भारत-भारती का सम्मान ग्रहण करेगी। उसको वह सम्मान देना हम सबका राष्ट्रीय धर्म है।

हमारे देश में विविधता में एकता है। भारत की सभी भाषाओं के स्वरूप को देखिये, वह अलग-अलग है, उनकी बोलने की प्रक्रिया अलग-अलग है; लेकिन सभी भाषओं में जो एक आत्मा है, वह भारतीय आत्मा है। उनमें एक ही सुगंध है - हमारे भारत की संस्कृति, सभ्यता और अस्मिता की। इसीलिए हम विविधता में एकता की एक सशक्त मिसाल बने हुए हैं।

स्वाभाविक रूप से यह प्रकृति की देन है, हिन्दी की नियति है कि उसे संस्कृति के चिन्तन को प्राप्त करने का अधिकार विरासत में प्राप्त हो गया। हमारा भक्ति-काल का आंदोलन, जो हमारी संस्कृति में किया गया, श्रेष्ठ चिन्तन का निचोड़ है, जिसने इस देश के जन-जन को झंकृत कर दिया था, आंदोलित कर दिया था और प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने की एक अटूट शक्ति पैदा कर दी थी। वही हिन्दी आधुनिक-काल में स्वतंत्रता-आंदोलन की भाषा बन गई। मैथिलीशरण गुप्त ने जब कहा था कि, 'हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी, आओ विचारें आज मिल कर ये समस्याएँ सभी', तो उन्होंने हमारी पूरी मानसिकता को झकझोरने का प्रयत्न किया था। जब माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा कि - 'मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक, मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक', तो उन्होंने इस देश की युवा-शक्ति को आंदोलित कर दिया था। जब बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने कहा था कि, 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए', तो समूचा साहित्य देश की राष्ट्रीयता का प्रतीक बन गया था। फिर एकाएक क्या हुआ कि सन्नाटा छा गया? इसके लिए हमें अपने अंदर झाँकना होगा।

यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि हम एक अरब से ज़्यादा भारतीय जिस हिन्दी को राजभाषा बनाने के प्रति उदासीन रहे हैं, उसे सिंगापुरवासियों ने उत्साह से अपनाया है। वहाँ की कुल आबादी में यों तो भारतीयों की तादाद केवल ६प्रतिशत है, लेकिन फिर भी वहाँ हिन्दी का आकर्षण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण भारत में नौकरी कर पाने की इच्छा नहीं है, बल्कि सिंगापुर के युवा मानते हैं कि हिन्दी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय होती जा रही है। अँग्रेज़ी और चीनी के बाद हिन्दी ही प्रमुख भाषा है। हमारे संविधान के अनुच्छेद ३४३ (१) के अनुसार हिन्दी संघ की राजभाषा है। १४ सितम्बर १९४९ को संविधान सभा द्वारा पारित यह प्रस्ताव आज तक पूरी तरह लागू नहीं हो पाया। संविधान-निर्माताओं ने तब यह प्रावधान रखा था कि अगले १५ वर्षों तक अँग्रेजी भाषा का प्रयोग संघ के सभी सरकारी कार्यों के लिए जारी रहेग। यह प्रावधान ऐसा जोंक की तरह चिपका कि अँग्रेजी इतने सालों बाद भी नहीं हटी और हिन्दी को उसका न्यायोचित हक़ नहीं मिल पाया। वह अनुवाद की भाषा बनी रह गई। वस्तुतः हर सरकारी काम मूलतः हिन्दी में होना चाहिए और ज़रूरत हो तो उसका अँग्रेजी-अनुवाद संलग्न किया जाना चाहिए। प्राथमिकता और सर्वोच्चता हिन्दी को ही देनी चाहिए। अँग्रेजी की हैसियत एक विदेशी भाषा की रहे। वह फ्रेन्च, जर्मन या रूसी की भाँति ऐच्छिक अध्ययन की भाषा हो। हिन्दी हर प्रकार से एक सम्पन्न, सामर्थ्यवान सम्पर्क भाषा है। इसकी शब्द-सम्पदा अँग्रेजी के मुकाबले काफी बड़ी है। अभिव्यक्ति का श्रेष्ठ व प्रभावशाली माध्यम हिन्दी ही है। वस्तुतः यह विश्व भाषा होने की सामर्थ्य रखती है, किंतु अपने ही देश में इसकी शासकीय स्तर पर उपेक्षा हो रही है। हिन्दी राष्ट्रीय स्वाभिमान की प्रतीक है। जब मॉरीशस, फीजी, गुयाना आदि देशों में हिन्दी बोली जाती है और विश्व के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों में इसे पढ़ाया जाता है तो यहाँ

इसकी अवहेलना क्यों? हिन्दी को समग्र देश की जन-भाषा के रूप में देखा और स्वीकार किया जाना चाहिए। आश्चर्य इस बात का है कि जहाँ विदेशी चाव से हिन्दी सीख रहे हैं, वहीं हम अपनी भाषा से दुराव रखते हैं। ज़रूरत इस बात की है कि अँग्रेजी का मोह त्याग कर हिन्दी को रोजी-रोटी से जोड़ा जाए। यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि अँग्रेजी का जानकार ही विद्वान होता है। जब सिंगापुर हिन्दी अपना सकता है तो हम क्यों नही?

लोगों में यह भ्रम फैला है कि हिन्दी में वह क्षमता नहीं है। लोग यह भी कहते हैं कि अँग्रेजी पढ़ने से अच्छी नौकरी का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अँग्रेजी पढ़ने से ही यदि नौकरी मिलती होती तो अमेरिका और इंग्लैंड में कोई भी बेरोज़गार नहीं होता।

सचमुच लार्ड मैकाले बड़ी सूझ-बूझ का धनी व्यक्ति था। उसने अपने होम-सेक्रेटरी को लिखा था कि 'मैं नहीं कह सकता कि भारत देश राजनीतिक रूप से आपके आधीन रह पायेगा, लेकिन इतना मैं अवश्य करके जा रहा हूँ कि यह देश राजनीतिक स्वतंत्रता पा लेने के बाद भी अँग्रेजी मानसिकता, अँग्रेजी सभ्यता और अँग्रेजी भाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकेगा।'

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हम जिस समस्या का सामना कर रहे हैं, आज़ादी प्राप्त होने के इतने वर्षों बाद भी जिस समस्या से हम उबर नहीं पाए हैं, वह हमारी मानसिकता की समस्या है। आश्चर्य की बात है कि देश की आज़ादी से पहले जो हिन्दी स्वतंत्रता-संग्राम की भाषा बनी थी, हमारे देश की राष्ट्रीयता की वाहक बनी थी, वह हिन्दी आज आज़ादी के इतने वर्षों में ऐसे स्तर पर आ गई है ! हमें चिन्ता होती है कि हमारा बच्चा आने वाले समय में किस भाषा में बात करेगा। आज हमारे लिए संक्रमण काल का समय है। आज न तो हम अँग्रेजी बोल पाते हैं और न ही हिन्दी बोल पाते हैं। हम आज हिंग्रेज़ी बोल रहे हैं, हमारे वाक्यों में आधे शब्द हिन्दी के और आधे शब्द अँग्रेजी के होते हैं। हम दरअसल मिलावट और प्रदूषण के शिकार हो रहे हैं।

अँग्रेजी विश्व भाषा है - यह दलील उन्हीं देशों के नेता देते हैं, जहाँ ब्रिटेन का राज था। जहाँ फ्रांस या हालैण्ड का राज था, वहाँ इस 'विश्वभाषा' की कोई पूछ नही। भारत में अँग्रेजी की तरह वहाँ फ्रांसीसी और डच का आधिपत्य है। बात समृद्ध और विश्वभाषा की नहीं है, बात है गुलामी की। आप जिसके गुलाम थे, उसकी भाषा को अपने गले का तौक बनाये हुए हैं।

हमने जनतंत्र-पद्धति को अपनाया है। इसमें तंत्र को जन की अवहेलना करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। लेकिन क्या जन ने अपनी क्षमता का इस तरह विकास किया है कि वह तंत्र की लगाम कस कर रखे, तंत्र से कहे कि हमारी भावनाओं के अनुरूप काम करो? हमारी इच्छाओं को अभिव्यक्ति नहीं मिलती, इसलिए हमारे देश का जनतंत्र डगमगाता दिखाई देता है।

तंत्र की जो भाषा है, वह हमारा जन नहीं समझता और हमारे जन की जो भाषा है, उसे देश का तंत्र नहीं समझता।

आज जब हम हिन्दी की बात करते हैं तो समझ लीजिये कि हम भारतीय भाषाओं की भी बात करते हैं। जब कभी देश को जोड़ने की, एक साथ लाने की, समन्वित करने की आवश्यकता हुई तो हिन्दी ने आगे बढ़ कर अपनी भूमिका निभाई है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा/राजभाषा के रूप में स्वीकार करने के तीन मूल आधार हैं - वह सीखने, बोलने और व्यवहार में अपेक्षाकृत सरल है; उसके बोलने वालों की संख्या अधिक है और उसमें पूरी सांस्कृतिक गरिमा और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। इस बात को पहले के लोगों ने अच्छी तरह समझा था कि हिन्दी सम्पर्क भाषा का काम कर सकती है।

हिन्दी का महत्व इसलिए है कि वह एक जनभाषा है। आज सभी हिन्दी प्रेमियों और देश के हितैषी भाई-बहनों का यह उत्तरदायित्व है कि जनभाषा के रूप में हिन्दी के विकास व प्रसार में योगदान करें और इसकी विश्वसनीयता में वृद्धि करें। भाषा के संघर्ष की प्रक्रिया में उसे जन-जन के संघर्षों की भाषा भी बनाना होगा। राष्ट्रभाषा और राजभाषा तो वह अपने-आप बन जाएगी।

हमारे यहाँ जनता की ओर से हिन्दी की स्वीकृति है। जनसामान्य हिन्दी जानता है, हिन्दी से प्रेम करता है और अपना काम चलाता है। जब वह बद्रिकाश्रम से लेकर कन्याकुमारी तक यात्रा करता है या कच्छ से लेकर कामरूप तक जाता है, चाहे वह किसी भी भाषा का भाषी हो, वहाँ तीर्थ-स्थानों में हिन्दी से उसका काम चल जाता है।

क्या यह पक्का सबूत नहीं कि हिन्दी हमारे लिए बड़े काम की भाषा है? विदेशों में लोग समझने लगे हैं कि अगर हमें भारत को जानना है तो हिन्दी के माध्यम से उसके इतिहास को, उसकी संस्कृति को, उसके आचार-विचार को हम बेहतर ढंग से जान सकते हैं।

भाषा के कारण विषमता की बात बेमानी है, यह तथाकथित बुद्धिजीवियों के दिमाग की उपज है। जन-साधारण के लिए हिन्दी की कोई समस्या नहीं है। कुंभ के मेले में आप गये हैं कभी? यदि नहीं तो आगामी कुंभ पर प्रयाग जाइये। आप पाएँगे कि उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम के लोग ही नहीं, विदेशी भी बड़े सहज भाव से हिन्दी के सहारे मेले का सुख प्राप्त करते हैं, करोड़ों की तादाद में लोग हिन्दी बोल कर एक-दूसरे से मिलते हैं।

हमारे मनीषियों ने बहुत सोच-समझकर ही अपने तीर्थ-स्थानों को भारत की चारों दिशाओं में स्थापित किया, जिससे एक दिशा का यात्री दूसरी दिशा में जा कर वहाँ के निवासियों से सम्पर्क कर सके और उस समय सम्पर्क की यही भाषा थी हिन्दी। इसी सम्पर्क भाषा के महत्व को स्वतंत्रता-सेनानियों ने समझा और स्वतंत्रता की लड़ाई में पूरे भारत को एकजुट करने के लिए हिन्दी को अपनाया।

यह विडम्बना ही है कि हमारे भाग्य-विधाताओं को यह अहसास कभी नहीं रहा कि हिन्दी का प्रश्न केवल भाषा या सम्प्रेषण की सुविधा का प्रश्न नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय स्वाभिमान और राष्ट्रीय एकता का प्रश्न भी है। इन तत्वों का अभाव भौतिक विकास के क्षेत्र में देश को पिछलग्गू ही बना रहने देगा और आर्थिक साम्राज्यवाद के शोषण के लिए ज़मीन भी तैयार करता रहेगा, क्योंकि उससे संघर्ष करने के लिए आवश्यक जुझारू मानसिकता ही पैदा नहीं हो पाएगी। मार्क्स ने गलत नहीं कहा था 'इतिहास से सबक न लो तो उसे दोहराना ही पड़ता है।' राष्ट्रीय स्वाभिमान और राष्ट्रीय एकता किसी भी प्रकार के भौगोलिक या धार्मिक उन्माद से बिलकुल अलग चीज़ है।

हम यह जानते हैं कि भारतीय भाषाओं का संक्रमण और संस्कृत शब्दों की उपस्थिति आज म्यामाँर, मलेशिया, इंडोनेशिया, श्रीलंका, सूरीनाम, गुयाना, त्रिनिदाद, सूडान, फीजी तक की भाषाओं में दिखाई देती है। भारतीय भाषाओं के शब्द बड़े ही सहज रूप में हिन्दी में चले आ रहे हैं। दक्षिण की भाषाओं - तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ के भजन आप सुनिये तो आपको ऐसे बहुत सारे शब्द उनमें मिल जाएँगे, जो हिन्दी में भी बोले जाते हैं। तो जब हिन्दी इतने व्यापक स्तर पर प्रचलित व समृद्ध भाषा है तो यह प्रश्न कहाँ उठता है कि इसकी लोकप्रियता, इसकी क्षमता में कोई कमी है। भाषा-विज्ञान और व्याकरण की दृष्टि से भी भारतीय भाषाओं में बहुत समानता है।

हिन्दी भाषा के अखिल भारतीय महत्व का पहला कारण यह है कि वह भारत की सबसे बड़ी जाति की भाषा है। दूसरा कारण है कि वह उत्तर भारत से लेकर बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र तक की भाषाओं और हिन्दी के शब्द-भंडार में इतनी ज़्यादा समानता है कि लोग उसे आसानी से समझ लेते हैं। तीसरा कारण यह है कि राजस्थान के व्यापारी और पूँजीपति भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैले हुए हैं और साधारणतः वे हर जगह हिन्दी की शिक्षा और प्रचार आदि में सहायता करते हैं। चौथा और सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि हिन्दी भाषी इलाकों के मज़दूर मुम्बई, कोलकाता जैसे बड़े-बड़े नगरों में भारी संख्या में मिलते हैं।

हिन्दी आज भारत तक ही सीमित नहीं, बल्कि विश्व के विराट फ़लक पर अपने अस्तित्व को आकार दे रही है और एक विश्वभाषा के रूप में तेजी से उभर रही है। हिन्दी मात्र एक भाषा ही नहीं, भारतीय संस्कृति की सबल, समर्थ और सशक्त संवाहिका है, जो विदेशों में करोड़ों की संख्या में बसे प्रवासी भारतीयों और भारतीय मूल के लोगों के बीच आत्मीयता के सीधे सूत्र स्थापित करने और उन्हें भारत, भारतीयता तथा भारतीय संस्कृति से निरन्तर जोड़े रखने में एक सशक्त माध्यम का काम करती है। इसी में वे अपनी अस्मिता की पहचान भी पाते हैं।

आइये, हम इण्डिया को भारत बनाने का दृढ़ संकल्प करें और इस देश की अस्मिता, देश के सोच, देश के चिन्तन के साथ गहराई से जुड़ने का प्रयत्न करें। हम जब इण्डिया को भारत बनाने की बात करते हैं, तो हम समग्रता में विश्वास करते हैं। साझा चूल्हा है हमारा। साझा इसलिए कि केरल में बैठा हुआ विद्वान हिन्दी में बात करता है और तमिलनाडु में सब्जी बेचने वाला हिन्दी को समझ लेता है। हिन्दी भारत देश की भाषा है, वह सबको जोड़ती है। आज के समय की यह ज़रूरत है कि उसे मज़बूत किया जाए।

मेरा देश

स्नेह ठाकुर

मेरा देश आज
दो नामों में बँट गया है
भारत और इण्डिया
भारत पूर्वीय दैवीय गुणाच्छादित सभ्यता का प्रतीक
और इण्डिया पाश्चात्य सभ्यता का।
भारत इण्डिया के भार से
दबा जा रहा है
अधःपतन के गर्त में
डुबाया जा रहा है।
भारत की सात्विक संस्कृति की छाती पर
इण्डिया की तामसिक वृत्ति
चढ़ कर बैठ गई है
और उसे सौतेले भाई की भाँति
चौखट से बाहर
निष्कासित कर रही है।
एक ओर जहाँ इण्डिया
दिन-दूना रात-चौगुना
तथाकथित उन्नति के शिखर पर
पहुँच रहा है
वहीं भारत,
सहमा-सा, ठिठका-सा
दम तोड़ता हुआ
घुटनों पे खड़ा रह गया है।
जिस भारत में दूध की नदियाँ बहती थीं
वहाँ के नागरिक को आज स्वच्छ पानी भी दुर्लभ है
इण्डिया का निवासी
पेप्सी, कोक, बीयर की बहुलता से
सराबोर है।
भारत आज भी
पगडण्डी पर
बैलगाड़ियों में भ्रमण करता है
इण्डिया में
कारों की कमी नहीं
एक्सप्रेस हाईवे पर

फर्राटे से
मार्ग में आने वाले
किसी भी अनचाहे व्यवधान को
कुचलती चलती हैं।
इण्डिया का निवासी
अँग्रेजी, जर्मन, फ्रेन्च पढ़ता है
भारत का,
रोज़ी-रोटी के चक्कर में
तन ढाँकने
पेट की आग का
ईंधन जुटाने
मज़दूरी-मशक्कत करने में
व्यस्त रहता है;
क ख ग की शिक्षा से भी
दूर छिटक जाता है।
इण्डिया की महिलाएँ
चुस्त-दुरुस्त फैशन में
शिखरोन्मुख हैं
सुन्दरियाँ
मिस यूनीवर्स, मिस वर्ल्ड के पद पर
पदासीन हैं,
पर भारत की नारी
अभी भी उत्पीड़ित है।
इण्डिया में
दिखावे के चक्कर में
लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं
पर भारत में
करोड़ों लोगों को
दो-जून की रोटी भी नसीब नहीं होती है।
भारतीय साहित्य, संस्कृति दम तोड़ रही है
और पश्चिमीय सभ्यता जोरों से पनप रही है
लोकगीत, नृत्य, कला
अपने ही घर में सिर झुका
लज्जित-से
कोने में खड़े हैं
और इण्डिया के पाँव
पाश्चात्य धुन पर थिरक रहे हैं।

भारत दाने-दाने और पैसे-पैसे का मोहताज़ है
और इण्डिया काले-धन से मदहोश है
इण्डिया पर्याय है ऐय्याशी का
तो भारत संघर्ष का।

इण्डिया और भारत के बीच
एक गहरी खाई
खुद गई है
जो दिनों-दिन
अंधे कुएँ-सी
गहराती जा रही है।

भारतीय इण्डियन बन
अपनी मातृ-भाषा को परे धकेल
परायी भाषा में
उधार मिली संस्कृति में
सुखानुभूति अनुभव करता है
यह कैसी विडम्बना है?

एक ज़माने का इतना समृद्धशाली भारत
माँगी हुई संस्कृति के बल पर
अपने को ऊँचा दिखाने के विकृत प्रयत्न पर
दिखता है कितना दारुण, हास्यास्पद।

जो देश था हर गौरव से भरपूर
वही उन सबको तुच्छ मान
नकली हीरों की चमक से प्रभावित
गलत सिद्धान्तों की बैसाखियाँ लगा कर
भौतिकता की अंधाधुंध दौड़ में शामिल
बदहवास भागता जा रहा है।

काश भारत !
स्वयं के नाम से ही जाना जाता
उसका अँग्रेजी अपभ्रंश रूपान्तरण न होता
भारत भारत ही रहता, इण्डिया न बनता।

काश ! आज भी भारत जाग जाये
अपना मूल्य पहचाने
संकट के कगार पर खड़ा भारत
अतीत के असंख्य अनमोल रत्नों की
धूल झाड़-पोंछ कर
उन्हें चमका-चमका कर
अपने बूते पर
विश्व में अपना तिरंगा फहराये।

बेटी की बारात न लौटे

निर्मला सिंह

'जब से दीपा बिटिया की शादी की बात पककी हो गई है, आप बड़े दुःखित और चिन्तित से रहते हो। सगाई के समय भी आपके चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ खिंची हुई थीं। ऐसी क्या बात है आप मुझे कुछ तो बताइये?' रेखा ने अपने अध्यापक पति को झकझोरते हुए पूछा।

लेकिन मनीष ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। चाय की प्याली मेज़ पर रख दी, फिर अख़बार पढ़ने लगा। रेखा को पति की चुप्पी से बेबसी और लाचारी की गंध आ रही थी। फिर भी रेखा ने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि पति की उदासीनता जो ताड़ के वृक्ष-सी लम्बी होती जा रही थी, वह उसकी जड़ों का पता लगाकर ही रहेगी। और हुआ भी वही, मनीष के मुँह से शब्द रुक-रुककर गुल्लक के मुँह से निकलने वाले सिक्कों की भाँति निकलने लगे, 'पचास हज़ार रुपयों का इंतज़ाम कैसे करूँगा? बस यही सोच पंखहीन चिड़िया की भाँति मेरे मस्तिष्क में हरदम फड़फड़ाती रहती है।' सूखे नारियल से मुरझाये चेहरे पर ढुलके आँसुओं को पोंछते हुए मनीष ने कहा। सहानुभूति के बजाय सूखे रेतीले स्वरों में रेखा बोली, 'मैं तो पहले ही जानती थी कि आपको आर्थिक अभाव जंगली शेर की भाँति दहाड़-दहाड़ कर डरा रहा है, लेकिन इस तरह से दुःखी रहने से काम नहीं चलेगा।' रेखा ने पति के हाथों को साहलाते हुए कहा।

'वही तो सोच रहा हूँ कि क्या करें? कहाँ से रुपयों का इंतज़ाम होगा?'

पति-पत्नी दोनों चिन्ता के सागर में गोते लगा रहे थे, लेकिन ऐसे ज़िन्दगी नहीं कटती; उन्हें तो यथार्थ के समुद्र की गहराई तक पहुँच कर सच्चा मोती निकालना था। अतः रेखा ने हल्की आवाज़ में कहा, 'सुनिये, कुछ गहने तो मैं अपने बेच दूँगी बिटिया के गहनों के लिए और कपड़ों का भी इंतज़ाम हो जायेगा। मैंने राजीव और संजीव की शादी में मिली हुई साड़ियाँ भी उठाकर रख ली थीं। रही बिटिया और दामाद जी के कपड़ों की बात तो वह राजीव और संजीव से कह देंगे, वे कपड़े खरीदवा देंगे।'

जैसे सड़क पर चलते-चलते एकाएक कोई गड्ढे में गिरकर चींख पड़ता है, मनीष ज़ोर से चिल्ला पड़े, 'क्या बकवास कर रही हो? दोनों बेटों ने केवल ढाई-ढाई हजार रुपये देने को कहा है।'

'यह क्या कह रहे हो तुम? हे राम, दोनों का ही खून सफेद हो गया है। देखो न हुई वही बात जो मैं पहले कहती थी। लाख बार तुमसे कहा कि रुपये बचाओ बेटी की शादी के लिए, बेटों पर ही खर्च मत करो। तुमने मेरी कभी नहीं सुनी। बेटों की शादी और पढ़ाई पर खूब खर्च किया और. . . .।' और क्या किया? वह भी बोल दो।' बोलते समय लग रहा था कि मनीष के दिल में पड़े फफोले धीरे-धीरे फूट रहे हैं। 'हिम्मत है सुनने की तो बताऊँ?' रेखा के शब्दों से चिंगारियाँ निकल रही थीं।

'हाँ बताओ', नीची निगाह करके मनीष ने पूछा। 'जब तुम ट्यूशन पढ़ाते थे, मैंने तुमसे एक बार नहीं, हज़ार बार कहा कि जिस तरह मि. सिन्हा, मि. गुप्ता और सक्सेना जी पढ़ाते हैं वैसे ही पढ़ाओ, लेकिन नहीं सुना आपने। आपसे पढ़ने वाले विद्यार्थी दस में पाँच पास होते थे। दूसरे टीचर अपने ट्यूशन वाले सभी विद्यार्थियों को पास कराते थे। नतीजा यह हुआ कि विद्यार्थियों की संख्या कम होती गई। तुम्हारी आमदनी कम होने लगी और दिन-ब-दिन मँहगाई बढ़ती गई।'

मनीष चिढ़ से गये, 'ठीक है बाबा जो तुम तुम कह रही हो, सब ठीक है, लेकिन जो बीत गया उस पर अब रोने से क्या फायदा है? कीचड़ को जितना कुरेदो, बदबू उतनी ही फैलेगी।' कह कर मनीष आँखें बन्द करके सोफे पर ही लेट गये।

मनीष की आँखें तो बंद थीं, लेकिन दिल के किवाड़ दुःख-दर्द, विषाद के लिये पूरे खुले थे। एक भीड़-सी लग गई थी मस्तिष्क में चिन्ताओं और सोचों की। लेकिन उस भीड़ को मनीष ने छाँटना था, बस इसी कोशिश में वह रात-दिन जुटे रहते थे। मनीष को लेटा हुआ देखकर रेखा घर के कामों में व्यस्त हो गई। काम भी तो बहुत करने थे। ठीक आधे महीने बाद बेटी की शादी थी।

मनीष को पता नहीं चला कि कब साँझ बरामदे और आँगन की दीवार फाँदकर क्षितिज के अंक में चली गई और रात के अँधेरे ने सुनहरी, चमकती धूप को निगल लिया ठीक उसी तरह जैसे रुपयों की चिन्ता ने उसके सुख को निगल लिया था। लेकिन फ़र्क है रात के अँधेरे में और उनकी

चिंता के अँधेरे में। फिर कल सुबह होगी, धूप निकलेगी, अँधेरा दुम दबाकर भाग जायेगा। ख़ैर उसे भी उजाला करना है। बेटी की शादी के लिए सत्तर हजार रुपयों का प्रबन्ध करना है। बस इसी भाँति जितनी देर मनीष लेटा रहा, सोच-विचार के पाँखी उसके दिमाग में फुर्र-फुर्र उड़ते रहे। पता नहीं कब तक और सोचता रहता, वह तो रेखा ने डिनर तैयार करके जब मेज़ पर लगा दिया, फिर से आवाज़ लगाई, 'सुनिये, खाना तैयार है, आप आ जाइये।'

'अच्छा हाथ धोकर आ रहा हूँ' कहते हुए मनीष जल्दी उठ कर बैठ गया।

कोई सवाल न जवाब। रेखा के साथ बैठते ही मनीष चुपचाप खाना खाता रहा और उसके चेहरे पर मुसाफ़िरों की तरह से आते-जाते भावों को रेखा स्वयं खाना खाते हुए एकटक देखती रही। मनीष चुपचाप खाना खा रहा था लेकिन उसका दिल कह रहा था कि दहाड़ें मार-मारकर रोये और अपने दोस्तों से खूब लड़े जिनकी हमेशा उसने ही सुख-दुःख में मदद की थी, अपने बेटों को खूब खरी-खोटी सुनाए, जिनको उसने बड़े नाज़ से पाला, जिन्हें कभी भी उसने अभावों की तपती धूप में नहीं चलने दिया। लेकिन अब पछताय होत क्या जब चिड़िया चुक गई खेत।

मनीष की मनःस्थिति और उसके दिल में उठते तूफ़ानों से रेखा अनभिज्ञ न थी परन्तु वह कुछ भी नहीं कर सकती थी। हाँ, जितनी सहायता वह कर सकती थी, उसने बता दिया था। काफी देर तक कमरे में शांति पंख लगी चिड़िया-सी उड़ती रही। और फिर जब दोनों खाना खा चुके तब वक्त की हवा के साथ खिड़की से बाहर निकल गई।

जैसे किसी ने अधरों पर लगा ताला खोल दिया हो, मनीष बोले, 'सुनो, मैंने कल अपने मित्र से फ़ोन पर बात की थी, वह मुझे पचहत्तर हजार रुपये देने के लिये तैयार है बिना ब्याज के। 'यह क्या कह रहे हो मनीष? तुमने तो कभी कुछ भी नहीं बताया। एकाएक यह दोस्त, ये उधार कहाँ से आ गये। आश्चर्य से अपनी बड़ी आँखों से मनीष की ओर देखते हुए रेखा तीखे स्वर में बोली।

'अरे भई मैं तो खुद भी अभी तक सोच रहा हूँ कि उधार लूँ या नहीं। बहुत सोचने के बाद इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि जब मेरे बेटे ही मदद नहीं कर रहे हैं और मेरे पास केवल सादी शादी के लिए ही रुपये हैं, तब इसके सिवाय कोई दूसरा चारा ही नहीं है।' 'मेरी राय में तो मकान गिरवी रख दो।' रेखा ने सलाह देते हुए कहा।' रेखा की बात सुनकर चिल्ला पड़ा मनीष, जैसे एकाएक आसमान से उसके ऊपर बिजली गिर गई हो, और वह जलने लगा हो। 'नहीं, कभी नहीं मैं अपना घर गिरवी रखूँगा। बुढ़ापे में बिना छत के हम लोग नहीं जी सकते।'

अगले दिन दोपहर बारह बजे वाली त्रिवेणी एक्सप्रेस से मनीष लखनऊ चले गये और जाते-जाते रेखा से कह गये, 'बरात तो मेरे स्कूल में ही आयेगी, केटरर का इंतज़ाम भी मैंने कर लिया है, फर्नीचर और सजावट भी केटरर ही करेंगे, तुम चिंता मत करना। हाँ, कार्ड भी मैंने खास-खास रिश्तेदारों को भेजे हैं। ज़्यादा से ज़्यादा पचास घराती होंगे, और उन्होंने भी पचास बरातियों के लिये कहा है।' 'हाँ-हाँ ठीक किया। अपना जो कोई भी रिश्तेदार आयेगा वह घर में ही ठहर जायेगा। सुनो, बिटिया के सास-ससुर, जेठ-जिठानी और उनके बच्चों के कपड़े कहाँ से खरीदें?'

कोई ज़रूरत नहीं है कपड़े खरीदने की, जब पचास हज़ार नकद दे रहे हैं।'

'अगर नहीं माने तब?' 'तो फिर बीस हजार रुपये बिटिया की सास को दे देंगे। वह सबके लिए खुद ही अपनी पसंद के कपड़े खरीद लेंगी।

'हाँ जी, यह बात ठीक है।'

बस इसी तरह मनीष की गाड़ी का वक्त हो गया। दोपहर का लंच पैक कराकर वह ले गये।

उधर मनीष तो लखनऊ चले गये, इधर घर में शादी की तैयारियों में रेखा व्यस्त हो गई। अपनी शादी की एक सोने की माला बेच कर हल्का-सा सोने का सैट ख़रीद लिया, पाँच साड़ियाँ और दो सूट ख़रीद लिए। साथ में मेकअप का सामान और दो जोड़ी चप्पलें ख़रीद लीं, एक घर पर पहनने के लिए और एक बाहर जाने के लिए। दामाद के लिए एक पैंट कमीज़ और एक घड़ी ख़रीद ली। इस तरह रेखा को व्यस्तता के कारण मनीष की अनुपस्थिति का पता ही नहीं चला। धीरे-धीरे करके रिश्तेदार भी आ गये और तीन दिन पहले राजीव, संजीव सपरिवार आ गये। सबके लिए भोजन बनाने और चाय-नाश्ता बनाने के लिए रेखा ने पड़ोस की महराजिन को सौ रुपये रोज़ पर रख लिया और बर्तन माँजने वाली भी सुबह सात बजे से रात नौ बजे तक रख ली।

सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा था, लेकिन शादी के पाँच दिन ही रह गये थे, मनीष नहीं आये। बस यही चिंता रेखा को दीमक की तरह चाट रही थी। वह लखनऊ फ़ोन लगाती तो दोस्त कहता था कि मेरी तबियत ठीक नहीं है, वह शादी के दो दिन पहले ही पहुँच सकेंगे। मित्र की बात पर रेखा को विश्चास नहीं हो रहा था। उसने फ़ोन पर कहा कि वह मनीष को भेज दे, शादी के कारण उनका बरेली आना बहुत ज़रूरी है। बहुत आग्रह के बाद मित्र ने कहा कि मनीष चार दिन पहले आ जायेंगे। दोस्त की बात सुनकर रेखा को उसी तरह राहत और शांति मिली जैसे सूखी रेत को पानी की बूँदों से मिलती है।

ख़ैर, किसी-न-किसी तरह रेखा ने हिम्मत और धैर्य के मोती मन की माला में चुन लिए और प्रत्येक रिश्तेदार और बेटों के पूछने पर बड़ी सहजता से उत्तर देती रही, 'बस मनीष आने ही वाले हैं।' लेकिन कानाफूसी और अनर्गल बातें तो खूब होती थीं। कोई कहता कि दहेज के डर से मनीष भाग तो नहीं गये। कोई कहता कि ज़रूर कुछ उल्टा-सीधा हो गया है जो मनीष नहीं आये। बेटों ने भी बकवास करने में कसर नहीं छोड़ी, 'मम्मी पापा भी कमाल करते हैं, शादी सर पर है और वे नदारद हैं।" बेटों की बात रेखा के लिए असह्यनीय हो गई और वह चीख पड़ी जैसे एक नहीं हजारों तीरों से घायल हो गई हो, 'शरम नहीं आती तुम दोनों बेटों को . . .पापा का सहारा बनने के बजाय उनको मँझधार में छोड़ कर, किनारे पर खड़े हुए तमाशा देख रहे हो ! अरे बेशरमों, वे बेटी के दहेज के लिए दोस्त से रुपये उधार माँगने गये हैं और इस वक्त वह दोस्त बहुत बीमार है, कल या परसों आ जायेंगे। रही काम की बात तो वे सारा इंतज़ाम करके गये हैं . . बस बारातियों की देखभाल और ख़ातिरदारी तुम दोनों ने करनी है, जिससे कि मानमर्यादा बची रहे। वैसे तुम दोनों ने तो भाइयों के फ़र्ज और कर्तव्यों का तो गला घोंट ही दिया है। अरे, इतनी मँहगाई में तो तुम दोनों के दिये हुए पाँच हजार रुपये तो ऊँट के मुँह में जीरे के समान हैं।' कहकर रेखा वहाँ से चली गई। उस समय रेखा की बात सुनकर दोनों बेटे और बहुएँ सब ऐसे चुप हो गये जैसे उन्हें साँप सूँघ गया हो। धीरे-धीरे इंतज़ार ख़त्म हो गया शादी से तीन दिन पूर्व मनीष आ गये। घर में सबकी निगाहें मनीष के उतरे, उदासीन चेहरे पर इधर-इधर घूमकर पेंडुलम की तरह फिक्स हो गईं। सबके होंठों पर एक ही सवाल था मनीष बड़े कमज़ोर, उदासीन-से हो गये हैं। सबको रेखा ने एक ही उत्तर दिया, 'दोस्त बीमार था, उसकी देखभाल करने में थक गये होंगे। अब थोड़ा आराम करेंगे फिर ठीक हो जायेंगे।'

मनीष ने कमज़ोरी में भी, जो कुछ काम वे छोड़ गये थे, सँभाल लिया। शादी के वक्त तो बेटों ने भी किसी को यह महसूस नहीं होने दिया कि वे ग़ैर ज़िम्मेदार हैं। खूब दौड़-भागकर बरातियों और घरातियों की सेवा की। हाँ, आर्थिक मदद समुद्र में डाली गई बूँद के बराबर थी। विवाह अच्छी तरह से सम्पन्न हो गया। किसी भी प्रकार का वाद-विवाद नहीं हुआ। मनीष ने समधी जी को जब पचास हजार दहेज के लिए और समधिन को सबके कपड़ों के लिए रुपये दिये तब वह लोग भी पूर्णतया सन्तुष्ट हो गये। हाँ, समधी जी ने रुपये लेते समय कहा, 'हम ये रुपये बेटे की पढ़ाई के लिए ले रहे हैं, यू.के. से पढ़ाई करके आने पर ये रुपये लौटा दिये जायेंगे। मनीष कृत्रिम मुस्कान बिखेरते हुए बोले, 'नहीं, वापस नहीं करने हैं। मैंने अपने बेटों की पढ़ाई में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। बस, आपसे यही प्रार्थना है कि दीपा बिटिया की आँखों में आँसू मत आने दीजियेगा।'

शांतिपूर्वक बेटी की विदाई हो गई। घर में जो चहल-पहल और रौनक थी वह धीर-धीरे शांति में तब्दील हो गई। एक-एक करके सभी मेहमान चले गये, यहाँ तक कि राजीव और संजीव भी अगले दिन चले गये। रेखा ने मेहमानों के जाने के बाद घर की नौकरानी के साथ मिलकर सफाई की, उसे सुव्यवस्थित किया। सब कुछ ठीकठाक हो गया लेकिन मनीष दुबले-पतले हो गये और अस्वथ्य-से लगने लगे। बेटी की शादी की चिंता सामप्त होने पर चेहरे पर रौनक आनी चाहिये थी, लेकिन उनका चेहरा बुझी राख-सा आभाहीन हो गया, आँखों के नीचे स्याह धब्बे पड़ गये।

और सबसे बड़ी आश्चर्यजनक बात तो रेखा को यह लगती थी कि वह पानी कई बार पीने लगे थे। चेहरे पर थकावट व उदासी तिलचट्टे-सी चिपक गई थी। देखने से पता लगता था कि मनीष अपने आँसू मन के अंदर सूखी रेतीली धरती से पीते रहते हैं। ऐसे ही एक दिन मनीष के मित्र का फोन आया टन . . . टन . . . टन, रेखा ने कहा, 'हैलो, कौन बोल रहा है?

गौरव ने कहा, 'भाभी जी, मैं गौरव बोल रहा हूँ।'

रेखा ने बेझिझक पूछा, 'गौरव भइया, आप दीपा की शादी में क्यों नहीं आये?'

'भाभीजी कुछ तबियत ठीक नहीं थी। अच्छा बताइये मनीष कैसे हैं?'

'क्यों, मनीष को क्या हो गया है? वह तो ठीक ही हैं। बस, पता नहीं क्यों बड़े कमज़ोर-से हो गये हैं, और उदास रहते हैं।'

'भाभीजी जब उन्होंने अपनी एक किडनी बेची है तो उदास तो होंगे ही, और कमज़ोर भी।'

'यह....यह क्या कह रहे हो गौरव भइया?' और फ़ोन सुनकर रेखा को लगा कि वह समुद्र के किनारे कगार पर खड़ी है और समुद्र में गिर जायेगी....। उससे आगे बात नहीं की गई....वह बड़ी मुश्किल से फ़ोन रखकर सोफे पर धम्म से बैठ गई। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि उसके पति ने इतनी गंभीर बात दिल के ख़ज़ाने में छुपा कर रखी और उसे हवा तक नहीं लगने दी।

कैसी पत्नी है वह जो पति की व्यथा, पीड़ा से भी अनजान रही। और जब तक मनीष स्कूल से लौटकर नहीं आये वह गरम रेत पर मछली-सी तड़पती रही। दर्द, पीड़ा, वेदना का ज्वार-सा रेखा के अन्तर्मन के सागर में उठने लगा। बहुत बेचैन हो गई। बार-बार एक ही विचार पानी के बुलबुले-सा उठ रहा था कि मनीष को किडनी नहीं बेचनी चाहिये थी। इतना बड़ा कदम उठाने के पहले उन्हें मुझसे पूछ लेना चाहिये था। अगर पूछते तब मैं मना कर देती चाहे अपना घर बेचना पड़ता। अरे, अपनी देह से ज़्यादा कीमती कुछ नहीं है दुनिया में। और मनीष ने अपनी किडनी बेच दी। मनीष तुमको ऐसा नहीं करना चाहिये था, रेखा बुदबुदा रही थी। उसकी बदबुदाहट चुपचाप स्कूल से आकर पीछे खड़े हुए मनीष सुन रहे थे।

'मुझे यह क्या नहीं करना चाहिये था?' मनीष ने बैग मेज़ पर रख कर पूछा।

मनीष को देख कर हड़बड़ा गई रेखा। आँखें कौड़ियों-सी चौड़ी करके मनीष की ओर देख कर कहा, 'आपको इतना बड़ा राज़ नहीं छिपाना चाहिये था।'

'कौन-सा राज़ मुझे नहीं छिपाना चाहिये था? कुछ समझाओ तो।' 'यही कि तुमने बेटी की शादी के लिए दहेज में पचास हजार रूपये देने के लिए अपनी एक किडनी बेच दी।' भौंचक्के हो गए मनीष। हाथों के तोते उड़ गये। छोटे बालक-से हकलाते हुए बोले, ' यह....यह....क्या कह रही हो तुम? यह सब झूठ है। मैंने किडनी नहीं बेची है।'

'क्यों फटी चादर पर पैबंद लगाते हो? तुम्हारे मित्र का लखनऊ से फोन आया था, उसी ने यह सब बताया है। वह भला झूठ क्यों बोलेगा? लेकिन मुझे बहुत अफ़सोस है मनीष कि तुमने मुझसे सच्चाई छिपाई। वास्तव में पति-पत्नी के बीच कोई राज़ नहीं होना चाहिये....जो विश्वास का पौधा हम दोनों के बीच पल कर वृक्ष हो गया था, तुमने उसे समूल नष्ट कर दिया।' कहते हुए फूट-फूट कर रेखा रोने लगी। देखने से लग रहा था न जाने कबसे जमी हुई दुःख-दर्द, पीड़ा की बर्फ एकाएक पिघल कर नदी-सी आँखों से बह रही थी। धीरे-धीरे डरते हुए मनीष रेखा के पास आये....बहते हुए आँसुओं को रूमाल से पोंछा, फिर गीले स्वर में बोले, 'देखो रेखा, इसके सिवाय मेरे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं था। बुढ़ापे में बिना छत के हम लोग नहीं रह सकते हैं....लेकिन जीने के लिए एक किडनी ही काफी है। रही बात तुम्हें बताने की तो मैं यदि बताता, तुम कभी इज़ाज़त नहीं देतीं।' कह कर सोफे पर बैठी हुई रेखा की गोद में सिर रख कर मनीष सोफे पर ही लेट गये....फिर धीरे से बुदबुदाए, 'यह सब मैंने इसलिए किया कि मेरी बेटी की बारात नहीं लौटे।'

झण्डा गीत

श्यामलाल गुप्त पार्षद

विजयी विश्व तिरंगा प्यारा
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
सदा शक्ति सरसाने वाला
वीरों को हरषाने वाला
प्रेम-सुधा बरसाने वाला।
मातृ भूमि का तन-मन सारा
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
आओ प्यारे वीरों आओ

देश-धर्म पर बलि-बलि जाओ
एक साथ सब मिल कर गाओ।
प्यारा भारत देश हमारा
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।
इसकी शान न जाने पाये
चाहे जान भले ही जाये
विश्व विजय करके दिखलायें।
तब होवे प्रण पूर्ण हमारा
झण्डा ऊँचा रहे हमारा।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में राष्ट्रीयता

डा. त्रिभुवन नाथ शुक्ल

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्कृति से सम्पन्न रचनाकार हैं। राष्ट्रीयता का जन्म संस्कृति की कुक्षि से होता है। ऐसे रचनाकार के साहित्य में अपने देश की नदियाँ, पहाड़, जीवंत परम्पराएँ, लोक संवेदनाएँ एवं मानवीय अस्मिता के भरपूर दर्शन होते हैं। यही कारण है कि द्विवेदी जी को 'मानवतावादी आलोचक' की संज्ञा प्राप्त है। इसी मानवता को केन्द्र में रख कर महाभारतकार ने लिखा है 'नहि मानुषा त् श्रेष्ठतरं ही किञ्चित्' अर्थात् मनुष्यता से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। यह राष्ट्रीयता का पहला सोपान है। राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक है - एक मातृभूमि, समान इतिहास, परम्परा, संस्कृति, आदर्श और श्रद्धा केन्द्र। समान जीवन लक्ष्य, समान सुख-दुःख, समान शत्रु-मित्र भाव, समान आशा, आकांक्षा आदि भावों से राष्ट्रीयता प्रकट होती है। भारत की उन्नति और विजय से सभी राष्ट्रीय शक्तियों को प्रसन्नता तथा पराजय से दुःख होना स्वाभाविक है। जहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य का प्रश्न है, उसमें देश, राज्य और राष्ट्र की बार-बार चर्चा हुई है। देश भौगोलिक इकाई है, राज्य राजनैतिक इकाई है और राष्ट्र सांस्कृतिक इकाई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य में राष्ट्र की अवधारणा सांस्कृतिक है, राजनीतिक नहीं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के चार उपन्यास 'वाणभट्ट की आत्मकथा' (१९४६), चारुचन्द्रलेख (१९६३), पुनर्नवा (१९७३), और अनामदास का पोथा (१९७६), क्रम से हर्षवर्धनकालीन, मध्यकालीन, गुप्तकालीन एवं प्राग इतिहासकालीन भारती संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। प्राग इतिहासकालीन भारतीय संस्कृति से लेकर गहड़वार नरेश, जयचन्द्र की पराजय के बाद के समय (लगभग ११९५-१२२० ई. तक) की भारतीय संस्कृति की झाँकी प्रस्तुत करना द्विवेदी जी का प्रमुख प्रतिपादा रहा है।

सांस्कृतिक, ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से देशीय एवं जातीय संस्कृति तथा परम्परागत मान्यताओं का वर्तमान सामाजिक हितों में चित्रण किया जाता है। द्विवेदी जी ने संस्कृति को संकीर्ण अर्थों में न लेकर उसके व्यापक रूप को ही स्थान दिया है। हिन्दी में 'संस्कृति' अँग्रेजी शब्द 'कल्चर' का पर्याय हो गया है और उसका प्रयोग कम से कम संकीर्ण और व्यापक दो अर्थों में होता है। जिस संस्कृति को द्विवेदी जी ने महत्व प्रदान किया है, वह संकीर्ण नहीं बल्कि व्यापक संस्कृति है। इसी के ठीक-ठीक अनुपालन को वे राष्ट्रीयता मानते हैं। वाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षकालीन भारत में प्राप्त सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक गतिविधियों का बड़ा ही सरस वर्णन मिलता है। देश के लोग ब्राह्मणों का अधिक सम्मान करते थे, उसका कुछ-न-कुछ आधार तो हमें 'वाण' से प्राप्त होता है। ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में वह जो कुछ भी कहता है, उससे स्मृतियों के दृष्टिकोण का समर्थन प्राप्त होता है। वाणभटट की रचना 'हर्षचरित' में एक स्थान पर आता है - असंस्कृतमतयोपि जात्येव द्विजन्मनोमाननीयाहर्ष चरित (पृष्ठ १८) अर्थात् जो केवल जन्म से ब्राह्मण है, परन्तु बुद्धि संस्कार से रहित है, वे भी माननीय हैं। 'निपुणिका' एवं 'भट्टनी' का बार-बार यह कहना कि वाणभट्ट तुम ब्राह्मण हो न? तथा ब्राह्मण को प्रथम भोजन कराकर ही अन्न ग्रहण करना और उसे एक ब्राह्मणोचित सत्कार देने के लिए सदैव प्रस्तुत रहना आदि उस युग में स्वीकृत ब्राह्मणों की सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रमाण है। निश्चित ही यह एक सामाजिक शिष्टाचार है, जो भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग रहा है। चारुचन्द्रलेख में भी धीर शर्मा और विद्याधर, राजा सातवाहन और रानी चन्द्रलेखा द्वारा जिस सम्मान और आदर के अधिकारी माने गये हैं, उससे भी सांस्कृतिक चेतना का परिचय मिलता है। अपने पुनर्नवा उपन्यास में द्विवेदी जी ने ब्राह्मण के स्थान पर पौरुष और सद्गुणों से सम्पन्न व्यक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार धार्मिक दुराग्रह से मुक्त संस्कृति को ही वे समीचीन मानते हैं। चाहे ब्राह्मण हो अथवा साधु हो, किसी को भी अपनी सुख-सुविधा के लिए आदरणीय बने रहने की छूट भारतीय संस्कृति में नहीं है।

राष्ट्रीयता का यह मूल मंत्र रहा है कि वह स्वयं की अपेक्षा पर-हित कामना की पक्षधर रही है। अनामदास का पोथा का यही मूल सांस्कृतिक प्रतिपाद्य है कि जो अपने-आप की सुख-सुविधा का ध्यान न रख कर दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों

का कष्ट दूर करने के लिए अपना प्राण त्याग सकता है, वही धार्मिक है (पृ. ६४)। धर्म की इस उदार व्याख्या के बल पर, जो इतिहास में समय-समय पर होती रही, वह भारतीय संस्कृति में सतत् प्रवहमान रहा और अनेक झंझावातों को झेलती हुई आगे बढ़ती गई है। मानवतावादी लेखक होने के नाते द्विवेदी जी ने समाज की रूपरेखा को प्रभावित करने वाले उन सभी तत्वों पर दृष्टि डाली है, जो मानव को मानव बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। समसामयिक समस्याओं के संदर्भ में ही मानव-धर्म की कल्पना करते हैं न कि जड़ता एवं अंधविश्वासों से ग्रसित रूढ़िवादिता के आधार पर। उनके अनुसार सामाजिक मंगल के लिए जो सहज प्रवृत्ति है उसी का नाम धर्म है (चारूचन्द्रलेख पृ. २८९)। यही राष्ट्रीयता भी है। कारण कि उदात्त हुए बिना यह संस्कार आ ही नहीं सकता। मानवी शक्ति पर भरोसा करते हुए वे कहते हैं - 'स्वर्ग का देवता पृथ्वी पर भाला, तलवार लेकर नहीं आता। जो लोग धर्म-बुद्धि सम्पन्न हैं उन्हीं को वे सुबुद्धि और शक्ति देते हैं। यह सुबुद्धि ही देवता है। शक्ति ही देवता है (चा.च.ले.पृ.२८९)' वे स्पष्ट घोषणा करते हैं - 'एकान्त का तप बड़ा नहीं है बेटा ! देखो, संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है। लोग दुःख से व्याकुल हैं। उनमें जाना चाहिये। उनके दुःख का भागी बन कर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो। यही वास्तविक तप है। जिसे यह सत्य प्रकट हो गया है कि सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान है वह दुःख कष्ट में जर्जर मानवता की कैसे उपेक्षा कर सकता है वत्स? क्या समझते हो कर सकता है?' (अ.पो.पृ.५९) द्विवेदी जी के उपन्यासों के सभी पात्र राष्ट्रीयता की संकल्पना से युक्त होकर इसी लोक सेवा संस्कृति के निर्माण में सहायक होते हैं। द्विवेदी जी ने पात्रों के व्यक्तित्व पर विशेष बल दिया है और उनके जितने प्रमुख पात्र हैं, उनकी अपनी एक अलग संस्कृति है। पर अपनी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ वे आदर्श समाज के अविच्छिन्न अंग बने हुए हैं। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। संस्कृति, व्यक्ति - स्वभाव, वाणी और अभिव्यक्ति क्षमता, रहन-सहन पर दृष्टिपात करती हुई उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करती है। इस विचार पर परिधि पर्याप्त व्यापक होती है। आचार्य द्विवेदी ने अपने विभिन्न उपन्यासों में इस संदर्भ कुछ सूत्र वाक्य भी दिये हैं। जैसे चारुचन्द्रलेख उपन्यास में उन्होंने लिखा - 'भारतवर्ष की धर्म व्यवस्था में बहुत से छिद्र हो गये हैं' - यहाँ वे धर्म, जो कि हमारी जीवन शैली, उसमें आए गतिरोधों के प्रति चिन्तित हैं। इसमें यह भी ध्वनित है कि धर्म के नाम पर जो बाह्ययाचार अथवा आडम्बर है, वह विनाशकारी है। इसीलिए उन्होंने छिद्र शब्द का प्रयोग किया है। फिर वे लिखते हैं - 'आर्यावर्त के विनाश का हेतु व्यर्थ का कुलाभिमान है।' चारुचन्द्रलेख का यह उद्धरण पाठक को यथार्थ की ज़मीन पर ले आता है। और आर्यावर्त की तक्षा के प्रति उसे आगाह करता है। ऐसा करना लेखक का धर्म है। वे इसका भलीभाँति निर्वाह करते हैं। आगे चल कर इसी उपन्यास में आचार्य द्विवेदी ने लिखा है - 'हमें कुछ ऐसा करना चाहिये कि सारी प्रजा अभेद्य चट्टान की तरह हो जाये। किसी को उसकी ओर आँख उठाने का साहस न हो।' स्तुतः वे ऐसे राष्ट्र के निर्माण की बात कर रहे हैं जिसमें स्वाभिमान हो तथा सर्वार्पिण की भावना हो। इसी भाव की पुष्टि में उन्होंने यह लिखा है कि - 'मैं स्पष्ट देख रहा हूँ आर्यावर्त नाश के कगार पर खड़ा है। इस देश को वही बचायेगा जिसके पास सहज जीवन का कवच होगा, सत्य की तलवार होगी, धैर्य का रथ होगा, साहस का ढाल होगा, मैत्री का पाश होगा, धर्म का नेतृत्व होगा।' उनके इस कथन में राष्ट्रीयता के बीज-भाव छिपे हुये हैं। राष्ट्राभिमानी रचनाकार ही ऐसा चिन्तन दे सकता है। वे वाणभट्ट की आत्मकथा में लिखते हैं - 'आर्यावर्त के तरुणों, जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो।' आचार्य द्विवेदी की रचनाओं में समाज को जगाने की अद्भुत सामर्थ्य निहित है।

सच्ची सती

फूलकुमारी

जिस कारज को छोड़ गये हैं, जग से नाता तोड़ गये हैं,
उसी कार्य को तुम भी ले लो, सभी शांति से दुःख को झेले।।
अपने को बलिदान किया था, पर स्वदेश का मान किया था।
वही भाव तुम उर में भर लो, उनका बीड़ा कर में धर लो।।

योगमाया

कादम्बरी मेहरा

यह पारो है। गूँगी है।

बहुतेरे इलाज़ करवा चुका है परकासा, मगर पारो की बोली वापस नहीं ला सका। अब तो उसके बाल भी पक गये हैं। जब वह काली मेढ़ियों में किनारी गूँथकर लम्बा पराँदा, चोटी में लटकाती थी, कितनी भली लगती थी। हथेलियों से थपक-थपक कर, गोल-गोल घुमाकर रोटी को गढ़ती जाती थी और लकड़ियों के चूल्हे पर सेंक कर उसे ताजे मक्खन के साथ परोसती थी। परकासा चूल्हे की लपटों से उजागर उसके रूप को निहारता, अमृत जैसा भोजन खाता ही जाता।

ऐसा ही वह आज भी करती है मगर चूल्हे की लपटें क्या सौ पॉवर का बल्ब भी उसके रूप को उजागर नहीं कर पाता। पारो का चेहरा सदा के लिए बुझ गया।

जब चंगी थी, रोटी पानी से निपट कर वह बच्चों को डाँटती-डपटती, कई बाल्टी पानी ऊपर छत पर चढ़ाती। सारी छत ठण्डी करती। फिर आप नहा-धोकर ऊपर मौंटी पर आती। चादँ-सितारों के नीचे धीमे-धीमे गुनगुनाती - 'बत्ती बाल के बनेरे उत्ते रखनियाँ, गली लंघ न जावे नी चन्न मेरा. . . .' परकासा निहाल हो जाता था। पर अब वह पारो नहीं।

पारो दसवीं तक पढ़ी है। शिवरानी, उसकी सास, कह कर लाई थी, 'देखो जी, मेरा इक्कोई बेटा है। जेड़ी वी आवेगी, सारे दी कल्ली मालकन होवेगी, पर कुड़ी मेहनतन होवे. . . .। मैं जी आप दस नूँ खिलाकर खान वाली ठहरी। मैनु सुघड़ नूँ चाइदी है। मुँहजोर ते आलसी होवे ते रखो अपनी कुड़ी अपने कोल। नाले मेरा परकासा बड़ा भलमानस है। उसनू चलाको माई नहीं चलेगी।' (देखो जी मेरा एक ही बेटा है। जो भी आयेगी सारी मल्कियत की अकेली मालकिन होगी, मगर लड़की मेहनती होवे। मैं तो खुद ही दस को खिलाकर खाने वाली ठहरी। मुझे सुघड़ बहू चाहिये। मुँहजोर या आलसी लड़की हो तो रखो अपनी बेटी अपने पास। इसके अलावा मेरा परकासा बड़ा भलामानस है, उसे चालाक लड़की नहीं चलेगी।)

पारो सास की कसौटी पर हर तरह से खरी उतरी थी, मगर भाग्य भी तो कोई चीज़ है न। औलाद हुई तो चार बेटियाँ - कमला, विमला, सरला और बेबी। बेबी बेबी ही रह गई। बड़ी तीन से मिलता-जुलता कोई चौथा नाम नहीं मिला। हर बार बेटे की उम्मीद से बच्चे पैदा किये और हर बार निराशा हाथ लगी। चौथी के आते-आते पारो अपना उत्साह खो बैठी। परकासा भी कमाई में ज़्यादा ध्यान देने लगा।

बेबी साल की होने को आई तब पारो का माथा ठनका। उसकी आँखों में कुछ अजीब बात थी - जरा ज़्यादा ही मिचमिची थीं। अजीब तरह से ज़ुबान बाहर लाकर वह आवाज़ें करती। जब तक बैठने लगी, सब सामान्य था, मगर घुटनों के बल चलना उसे न आया। बैठी ही रहती थी। टाँगें ऊपर से मोटी-मोटी और पैरों के पास पतली थीं। पैर अन्दर की ओर मुड़े रहते।

शिवरानी उसे देखकर कहतीं, 'पारो थोक में धियाँ जमेगी ते कोई दाना तो खराब निकलेगा ही।

बस यही खराबी थी। शिवरानी ज़ुबान से शासन करती थी। उसकी कटूक्तियाँ और गालियाँ यमराज के शब्द-संग्रह में भी न मिलें, और आवाज़ इतनी कर्कश कि कौवे भी शरमा जायें।

बहुतेरी मालिशें करीं। वैद्यों के दिये कुश्ते काढ़े पिलाये। बेबी वैसी निश्चल बैठी रही। माँ को पहचानती थी। बहनों से खेलती थी। अक्सर शिवरानी को देख कर रोने लगती थी। एक तरह से अच्छा ही था क्योंकि उसके रोने के डर से शिवरानी को अपना फटे बाँस-सा कंठस्वर धीमा रखना पड़ता था। परकासा कभी भी बेटियों को हाथ न लगाता था। बेबी अन्य बहनों के साथ चुपचाप बढ़ने लगी। जब तीन साल की हो गई तो हारकर एक दिन परकासा उसे शहर के डॉक्टर के पास ले गया। डॉक्टर ने बताया कि खराबी टाँगों में नहीं। बेबी बावली पैदा हुई है और बावली ही रहेगी जनम भर।

परकासे को उस पर बड़ी दया आई। पारो का काम-काज में हाथ बटाने के लिए उसने एक माई लगवा दी। पारो सारा दिन बच्ची को कमर में टाँगे-टाँगे घर का काम करती। बड़ी तीनों पुस्तकें व दवात उठाकर गली के स्कूल में जाने लगीं। शिवरानी कुढ़-कुढ़कर नीली होती। पहले वह पारो को

केवल ताने देती थी मगर अब धर-धर के गालियाँ सुनाती। 'मेरा ही घर मिल्या सी अपने पेके दे पाप धोन वास्ते। तेरा प्यो शराबां पींदा होना है ताँई ओदा पाप औलाद नूँ फल्या। हाय रब्बा करम खोटे ओदे ते पख परवार मेरा डुब्या।' (मेरा ही घर मिला था अपने मायके वालों के पाप धोने के लिए। तेरा बाप शराब पीता होगा तभी उसका पाप उसकी औलाद (यानि तुझे) फल रहा है। हे भगवान् ! करम उसके खराब और वंश मेरा डूब गया।)

पारो एक कान से सुनती दूसरे से निकाल देती। बेबी उसे बेदह प्यारी थी पर अब वह इतनी भारी हो गई थी कि पारो से उठती न थी। अतः परकासा एक पहियों वाला पटड़ा बनवा लाया। बेबी उसी पर बैठा दी जाती। घर का आँगन बहुत लम्बा-चौड़ा न था, वहीं रंगदार पायों वाले खटोले पर शिवरानी बैठी रहतीं। बैठे-बैठे के सभी काम उसके जिम्मे थे। जैसे तरकारी काटना, बड़ियाँ टुकना, छाछ बिलोना या दाल-चावल बीनना। बेबी का ठेलिया वहीं उसके आस-पास डोलता रहता। कभी भूले से भी वह बेबी को हाथ न लगाती। जाने कौन-सी दैवी समझ थी उस बच्ची में कि जब तक उसकी माँ या बहनें न पास होतीं वह मल-मूत्र के लिए किसी को तंग न करती। पाँच बरस की उम्र में भी वह दो-तीन बरस के बच्चे जितनी ही थी वज़न में। आँगन में उसका होना इस घर की पहचान बन चुका था। पारो और उसकी बड़ी बेटियाँ उसे सजा-बज़ाकर साफ-सुथरा रखतीं। परकासा सबसे कहता उसकी छोटी अपना बड़ा भाग्य लाई है। व्यापार में उसे फायदा ही फायदा हो रहा था।

जब पारो को पाँचवाँ बच्चा पेट में आया, बेबी को सँभालने में उसकी साँस फूलने लगी। पैसे की कमी नहीं थी। परकासे ने माई को कह दिया कि बेबी की पूरे समय देखभाल करे। जल्दी ही बेबी उससे परच भी गई। माई को देखकर अपने दोनों हाथ उठा देती और हँसकर किलकारी मारती।

तभी एक दिन शिवरानी की बहन रामदेई मिलने आई। उसके घर पोता हुआ था। लड्डू लेकर आई थी। शिवरानी खुश तो हुई मगर अपनी खोटी ज़ुबान को न काबू रख सकी। बहन से छेड़कर बोली, 'लै नी, तेरा 'टुंडा' पुत्तर वाला हो गया। बधाइयाँ तैनू।' (ले री, तेरा लूला बेटा पुत्तरवाला हो गया। तुझे बधाइयाँ।)

रामदेई कच्ची पड़ गई। झुँझलाकर उसे झिड़क दिया? 'तू भी न पैन, औखा ई बोलनी ऐ। सुख्खनाल मेरा गुपालदास ब्याया गया ते बाल-बच्चे वाला होया। ज़रा हाथ ही ते विंगा ऐ। तू ते लँगड़ी, गूँगी लै के बैठी ऐं। रब्ब कोलो डरया कर। ऐ नू वेख के ते कोई तेरी चंगियाँ नू वी नईं पुच्छेगा।' (तू भी न बहन टेढ़ा ही बोलती है। सुख हुआ कि आज मेरा गुपालदास ब्याह गया और बाल-बच्चे वाला हो गया। ज़रा-सा हाथ ही तो टेढ़ा है। तू तो लँगड़ी और गूँगी को लेकर बैठी है। भगवान् से डरा कर। इसे देख कर तो कोई तेरी अच्छी-भली लड़कियों को भी नहीं पूछेगा।)

बात खरी थी। सीधी तीर की तरह शिवरानी के जा लगी। रामदेई के जाने के बाद वह पहले तो रोई-धोई, फिर गुमसुम होकर पड़ी रही।

परकासा सब सुन कर उसे ही समझाने लगा, 'माँ, बचयाँ दी ख़ैर मनाया कर। चंगा कुछ करम करेंगी ते रब तैनु वी पोता दिखायेगा। राम नाम जपया कर। भगवान् ने जो दित्ता है ओह दी रख मना। लोकाँ नू गालाँ न दित्ता कर।' (माँ, बच्चों की ख़ैर मनाया कर। कोई अच्छा काम करेगी तो भगवान् तुझे भी पोता दिखायेगा। राम नाम जपा कर। भगवान् ने जो दिया है उसकी ख़ैर मनाया कर। लोगों को गालियाँ न दियाकर।) परकासे की डाँट सुनकर शिवरानी और भी जल-भुन गई।

माई को इस परिवार पर बड़ी दया आई। वह रोज़ कटोरी में उबटन बना कर बेबी की टाँगों पर रगड़ती। कभी उसे उल्टा करके अपनी टाँगों पर लिटा लेती और पीठ की मालिश करती। कभी उसके दोनों हाथ पकड़कर अपने शरीर के सहारे चलाने की कोशिश करती। बेबी खुश होकर किल्लियाँ मारती। माई का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टाएँ करती। बहुत पनपी तो नहीं पर इस कसरत से बैठे-बैठे ही सरकने लगी। बैठे-बैठे ही टचके लगा कर अपनी ठेलिया को इधर-उधर ठेलने लगी। माई इसे अपनी सफलता समझ कर खुश होती मगर शिवरानी के जी का जंजाल बढ़ने लगा। बेबी अब उसकी कटी सब्जियों तक आ जाती। मटर के छिलके बिखेर देती या छाछ के भाँडे को छेड़ती।

एक दिन माई ख़बर लाई कि जमना के किनारे तंबू लगा है। अलख जोत जगाकर कोई साँई समाधि लगाकर बैठा है। सारे शहर के लोग अपना-अपना रोग शोक सुनाने उमड़े पड़े हैं। शिवरानी ने सुना तो झट से ताँगा बुलवाया। महरू ताँगेवाला घर का पुराना मुँह लगा ख़ादिम था। सुबह-सुबह एक

जोड़ी सलवार कमीज़ दुपट्टे की पोटली में लपेटे शिवरानी स्नान करने जमना के तट पर गई। घर से थोड़ी ही दूर रेत के मैदान में भगवे झंडे वाला तंबू लगा था। शिवरानी भी उधर ही मुड़ ली। उतनी सुबह दो ही जने साँई के दरबार में उपस्थित थे। तीसरी यह जा बैठी। साँई ने जब अपने माला जाप के बाद आँखें खोलीं तो पहले इसी पर दृष्टि डाली। शिवरानी गोरी-चिट्टी, सफ़ेदपोश, सोने की चेन और हीरे के कनफूल पहने कोई मालदार सेठानी समझ में आई। साँई ने घुमा-फिराकर सत्तर उपदेशों के बाद समझाया कि उसके चरणामृत में मंत्रशक्ति वास करती है। शिव के आशीर्वाद से जो उसे पी लेता है, चंगा हो जाता है। दवा की जगह भस्म की चुटकी ही काम कर जाती है। जोड़ों की दरद अखण्ड जोत के ताव से सेंक करने पर गायब। शिवरानी ने आँखों में आँसू भरकर उसे अपनी व्यथा सुना डाली। साँई बोले शुभ काम में देर क्यों। बच्ची को ले आ। हम सेंक देंगे उसकी टाँगों पर तो चलने लगेगी। अगले ही दिन महरू की मदद से बच्ची को ताँगे में डालकर शिवरानी साँई के दरबार में जा पहुँची।

जिसे वह अखण्ड जोत कहता था वह दरअसल एक चौकोर अलाव था। यज्ञकुण्ड बनाकर उसमें चौबीस घंटे अग्नि जलती रहती थी। साँई ने बताया कि वह काली का महायज्ञ करता है। रात के अँधेरे में सभी भूत पिशाचों का योग नर्तन होता है इस कुंड के चारों ओर। सभी काली माँ का आवाह्न करके शक्ति हासिल करते हैं।

बच्ची को गोद में उठाकर उसने पहले चुल्लू से थोड़ा चरणामृत उसके मुँह में टपकाया फिर उसके हाथ पैर काफी ऊँचाई से यज्ञकुंड की अग्नि पर सेंके। शिवरानी उसकी मीठी बातों से, निरन्तर मंत्रोत्चार से और सबसे ज़्यादा इस बात से अभिभूत हो गई कि साँई ने सबको परे बैठाकर उसको प्राथमिकता दी थी। आधे घंटे में ही यह सब काम ख़त्म करवाकर वह वापस घर लौट आई।

उस दिन बेबी खूब गहरी नींद सोई रही। उठने पर उसने रोज़ से अधिक दूध पिया और अपेक्षाकृत शांत रही। हँसते-खेलते समय शोर भी कम मचाया। पारो को भी विश्वास हो गया कि शायद यही इलाज़ सफल हो जाये। दस-बारह दिन यही क्रम नियम से चलता रहा। पोती की सेवा में संलग्न शिवरानी को सब प्रणाम करते। वह गर्व से फूली न समाती। बच्ची उससे हिल गयी थी। ताँगे की सैर और लड्डू पेड़ा आदि खाने को मिलते। अज़नबियों को देख कर वह दादी की छाती में मुँह छिपा लेती। शिवरानी को उससे मोह होने लगा था।

साँई ने ऐलान किया कि मौनी अमावस आने वाली है। वह कुछ खास व्यक्तियों के लिए एकांत यज्ञ करेगा और सुबह के बजाय शाम को उन्हें विशेष अरदास के लिए बुलायेगा। शिवरानी जब यह सुन कर घर जाने लगी तो उसने इशारा किया कि उसको ज़रूर आना है। वह पहले तो सोच में पड़ी, फिर मान गई। महरू तो था ही उसके साथ।

मौनी अमावस को साँई के डेरे में साधु-संत एकत्र हुए। जब आने वाले आ गये तब सबने झाँझ, खड़ताल व चिमटे बजाकर कीर्तन किया। शिवरानी फलों का टोकरा लेकर पहुँची, साथ में महरू भी था और बेबी को भी लाल फराक पहनाकर ले आई थी।

कीर्तन के बीच में से साँई ने उनको अपने तंबू में बुलवाया। यहीं पर काली देवी की आदमकद मूर्ति के सामने एक नया पुता यज्ञकुंड धक्-धक् जल रहा था। महरू को हाथ के इशारे से उसने बाहर रुकने को कहा। शिवरानी ही सिर्फ़ अंदर गई। बच्ची को साँई ने रोज़ की तरह उठा रखा था। पहले उसे चरणामृत पिलाया। फिर हाथ-पैर सेंके। फिर जोर-जोर से मंत्र बोलते हुए उसने एक हाथ से बच्ची के दोनों हाथ और दूसरे से दोनों पैर जकड़कर उसे समूचा अग्निकुंड के ऊपर लटका दिया। बोला, इसकी रीढ़ की हड्डी की सिंकाई कर रहा हूँ।

जब वह हाथ-पैर सेंकता था तो उसके अपने हाथ को ताव कितना है इसका अंदाज़ हो जाता था, मगर इस बार बच्ची भूने जाने वाले सुअर के पिंड की तरह उसकी पकड़ से कई इंच नीचे तक लटकी थी। ताव अधिक था, फिर पूरी पीठ नंगी। चरणामृत में पड़े नशे से अर्द्धसुप्त बच्ची अचानक जोर से कुलबुलाई और शिवरानी के देखते-देखते बीच कुण्ड में जा गिरी।

साँई सकते में आ गया। जलती आग में हाथ डालकर बच्ची को बचा लेने की उसकी हिम्मत ना पड़ी। शिवरानी चीखती-चिल्लाती बाहर दौड़ी। जब तक महरू समझ पाता कि क्या हुआ और जब तक वह पानी का कमंडल, घड़ा आदि उठा पाता, बेबी का नन्हा शरीर जल गया। शिवरानी धाड़ें

मारने लगी। साँई भाग गया। चरस के नशे में डूबे अन्य मलंगी अंदर आग बुझाने आये मगर काली कीचड़ में बेबी की खोपड़ी भी न बची।

रात के अँधेरे में केवल एक लाल सूती फराक छाती से लगाये सिसकती बुढ़िया महरू के सहारे वापस आ गई।

बस तभी से पारो सदा के लिए गूँगी हो गई। बेटे का जन्म भी उसे न हँसा सका।

अलबत्ता शिवरानी, पोते को खिलाते हुए पुचकारी देते हुए कभी-कभी कहती है - 'ऐ ताँ मेरी योगमाया ने किशन नूँ मेरे घर भेजया है।' (यह तो मेरी योगमाया ने किशन को मेरे घर भेजा है।)

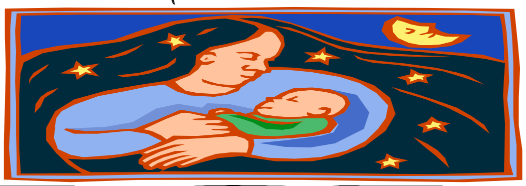

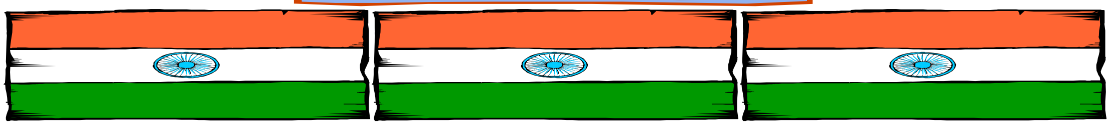

१८५७

गुलजार

एक ख़्याल था....इंकलाब का
इक जज़्बा था
सन् अठारह सौ सत्तावन !!
एक घुटन थी, दर्द था वो, अंगारा था जो फूटा था
डेढ़ सौ साल हुए हैं उसकी
चुन-चुन कर चिंगारियाँ हमने रोशनी की है
कितनी बार औ' कितनी जगह बीजी हैं वो चिंगारियाँ हमने
और उगाये हैं पौधे उस रोशनी के !!
हिंसा और अहिंसा से
कितने सारे जले अलाव
कानपुर झाँसी लखनऊ मेरठ रुड़की पटना।
आज़ादी की पहली-पहली जंग ने तेवर दिखलाये थे
पहली बार लगा था कोई सांझा दर्द बहता है
हाथ नहीं मिलते पर कोई ऊँगली पकड़े रहता है
पहली बार लगा था ख़ूं खौले तो रूह भी खौलती है
भूरे जिस्म की मिट्टी में इस देश की मिट्टी बोलती है
पहली बार हुआ था ऐसा....
गाँव गाँव
रूखी रोटियाँ बँटती थीं
ठंडे तंदूर भड़क उठते थे!!
चंद उड़ती चिंगारियों से
सूरज का थाल बजा था जब,
वो इंकलाब का पहला गदर था !
गर्म हवा चलती थी जब
और बया के घोसलों जैसी
पेड़ों पर लाशें झूलती थीं
बहुत दिनों तक महरौली में
आग धुएँ में लिपटी रूहें
दिल्ली का रस्ता पूछती थीं।

उस बार मगर कुछ ऐसा हुआ....
क्रांति का अश्व तो निकला था
पर थामने वाला कोई न था
जांबाज़ों के लश्कर पहुँचे मगर
सालारने वाला कोई न था
कुछ यूँ भी हुआ....
मसनद से उठते देर लगी
और कोई न आया पांव की जूती सीधी करे
देखते-देखते शामें अवध भी राख हुई।
चालाक था रहज़न, रहबर को
इस 'कुए यार' से दूर कहीं बर्मा में जाकर बाँध दिया।
अब तक वो जलावतनी में है
काश कोई वो मिट्टी लाकर अपने वतन में दफ़्न करे।
आज़ाद हैं अब....
अब तो वतन आज़ाद है अपना
अब तो सब कुछ अपना है
इस देश की सारी नदियों का अब सारा पानी मेरा है
लेकिन प्यास नहीं बुझती।
ना जाने मुझे क्यूँ लगता है
आकाश मेरा भर जाता है जब
कोई मेघ चुरा ले जाता है
हर बार उगाता हूँ सूरज
खेतों को ग्रहण लग जाता है
अब तो वतन आज़ाद है मेरा....
चिंगारियाँ दो... चिंगारियाँ दो....
मैं फिर से बीजूँ और उगाऊँ धूप के पौधे
रोशनी छिड़कूँ जाकर अपने लोगों पर
मिल के फिर आवाज़ लगाएँ....
इंकलाब ! इंकलाब ! इंकलाब !!

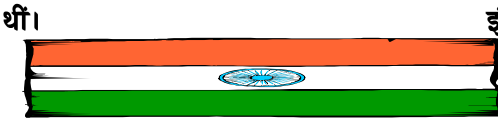

पंचायतनामा

डा. अरुण प्रकाश ढौंडियाल

ग्रामसेवक हयातसिंह हर सातवें या चौदहवें दिन अपने घर आता है। विकास क्षेत्र के प्रमुख कार्यालय एकेश्वर से चौथान पट्टी के पहले गाँव तक आने के लिये पोखड़ा ब्लॉक तथा बीरोंखाल बीच में पड़ते हैं। एकेश्वर से नौगाँव खाल वाले को तय करते हुए चौबटा खाल, गवाणी, पोखड़ा, बेदीखाल, फरसाड़ी, बैजरौ, कनेरा, उफरैंखाल और अन्त में बूँगीधार। यह चौथान पट्टी का आखि़री बस स्टॉप है। बूँगीधार से आधा किलोमीटर पैदल चलते ही गाँव आता है। हयातसिंह सहायक विकास अधिकारी के पद पर पदोन्नत होने वाला है। अपने पिछड़े इलाके में खासी इ़ज़्ज़त पाने के लिए ग्रामसेवक का पद ही काफी है। पदोन्नत होने पर तो बात कुछ और ही होगी।

शनिवार की शाम अपना बड़ा झोला लटकाये जब वह आँगन में पहुँचता है तो उसे वही सब देखने को मिलता है, जिसे कई बार देख कर भी अनदेखा करता आया है। अन्य दिनों की भाँति आज भी उसने प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। वह अपनी पाँच खंबों की तिबारी में चढ़ता है। बच्चों ने उसके आने पर स्वाभाविक खु़शी व्यक्त की। उसका झोला सँभाला, उस पर लपटे।

वह प्रसन्न दिखता है अपनी पत्नी से। बच्चों की पढ़ाई के विषय में पूछता है। उत्तर सन्तोषजनक मिलते हैं। उसे बताया जाता है, 'यादव गुरुजी पढ़ाने के लिए रोज घर पर आते हैं। रावत गुरुजी एक दिन छोड़कर आ पाते हैं। गणित और अँग्रेजी के अतिरिक्त किसी अन्य विषय के लिए ट्यूशन की आवश्यकता नहीं है।' पत्नी चाय लेकर आती है। केतली दाहिने हाथ में तथा पाँच स्टील के गिलास बाँये हाथ में। वह पाँचों गिलासों को नीचे रख देती है। तख्त पर बैठे पति को पहला, उसके बाद दूसरा, तीसरा और चौथा बच्चों को तथा पाँचवाँ खु़द के लिए।

रावतजी के लिए ग्रामसेवकजी ने थैलीसैण विकास क्षेत्र के अधिकारियों से मिलकर एक भैंस तथा एक जोड़ी बैलों का आधे दरों लोन का इन्तजाम करवा दिया था, इसलिए फीस नहीं लेते। यादवजी का कहना है कि दूर मैदानों से आकर देवतास्वरूप पहाड़ी बच्चों को पढ़ाने का काम निःशुल्क करेंगे। फिर भी ग्रामसेवक साहब उनको कुछ-न-कुछ लाभ दिलाते हैं। हयातसिंह की पत्नी ने कई बार प्रस्ताव रखा कि वे उनके मकान में रह लें। चार कमरे खाली हैं, जहाँ चाहें रह सकते हैं। यादवजी नहीं मानते। सरकारी क्वार्टर रहने के योग्य नहीं बने हैं लेकिन श्यामसिंह पटवारी का घर दस अध्यापकों के लिए सुविधाजनक है। इंटर कॉलेज से दो मिनट की उँचाई चढ़नी पड़ती है, बस।

तिबारी, याने कि पहली मंजिल की खुली बैठक में गाँव के चाचा, ताऊ, भाई-भतीजे जमा होने लगते हैं। इतने दिनों में आ पाते हैं हयातसिंहजी ! एक चिलम तम्बाखू तथा एक गिलास चाय पर सारे गाँव, यहाँ तक कि सारे इलाके का हक़-सा हो गया है। मिलनसार व्यक्तित्व, सहायता करने की आदत तथा प्यार-प्रेम से रहने का स्वभाव ग्रामसेवकजी को सम्मानित करता आया है। इससे पहले वे इसी विकास क्षेत्र अर्थात् थैलीसैण ब्लॉक में ही थे। दो साल पहले अचानक तबादला हो गया था। सुना है प्रमोशन होते ही थैलीसैण ब्लॉक में आने की इच्छा से यह स्थानान्तरण हुआ था।

रात जब बच्चे सो गए पत्नी ने बर्तन साफ करके एक बड़े गिलास में दूध पति के सिरहाने वाली मेज़ पर रख दिया है। वे जिस बेसब्री से पत्नी का इंतज़ार करते रहे उस अनुपात में पत्नी की दिलचस्पी न देख कर उन्हें हैरानी तो नहीं होती, लेकिन अपने धैर्य को सँभाल नहीं पाते हैं। पत्नी के इस स्वभाव को आरम्भ से देखते आये हैं। दूध पी लेने के बाद जब अपने संवेग को व्यक्त करते हैं तो पत्नी की अनिच्छा को देख कर सवाल करते हैं, 'तुम कैसी औरत हो? जानकारों ने जनानियों के जिन गुणों को बताया है उनमें इसकी. . . .।'

'छिः-छी ! मैं तो छिः. . . .हा ऽऽऽऽ।'

'तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ। हर सवाल का सही उत्तर देना। सच-सच कहोगी तो माफ कर दूँगा। पिछले सारे शक मिटाना चाहता हूँ। गलत मत कहना कुछ भी।'

पत्नी बैठ जाती है। सहम कर, 'कैसे सवाल? कैसा शक?'

'जब-जब मैं घर आया तुमको हरपालसिंह के साथ खिचखिचाहट करते पाया। मुझे देख कर वह खिसक जाता है। तुम....।'

'क्या कहा? हरपाल के साथ....? विद्यार्थी पर तुम्हारा....?

'इंटर में पढ़ रहा है। हाई स्कूल में दो साल लगाये। इस समय इक्कीस-बाइस से कम नहीं है।'

'तुम्हारी मति मारी गयी। आज क्या हो गया है?' वह हँसती है।

'आनन्दसिंह हमारा सबसे छोटा लड़का है। उसे जितना प्यार तुम करती हो उतना मैं भी करता हूँ। उसकी सूरत पर कई बार बहस हो जाती है। न मेरी शक्ल का न तुम्हारी।'

'दादी कहती थीं अपने बूढ़े दादा पर गया है।'

'हमारे खानदान में इतने पक्के रंग का कोई नहीं था।'

'दादी झूठ नहीं कह सकती।'

'दादी, दादी होती है। एक अनुभवी और परिपक्व औरत का गुण होता है दादी में। वह सब जानती थी। यह सूरत जो तकरार का कारण बन सकती थी उसने उस पर ख़ानदान की मुहर लगा दी। गाँव के हरएक से कहती रही अपने बूढ़े दादा पर गया है। उसने तेरी करतूत पर काला कफ़न डाल दिया। वह नहीं चाहती थी कि हयातसिंह की गृहस्थी पर कोई उँगली उठाये। उसने हयातसिंह की पत्नी को अभयदान दिया था।

'आप 'रीसा' लगा रहे हो।'

'रीसा का अर्थ होता है शक्की मन से पत्नी को झूठ-मूठ में दूसरों पर 'बिटमना', लेकिन मैं एक सच्चाई का खुलासा कर रहा हूँ। आनन्द की शक्ल सौ फीसदी यादव से मिलती है।'

'क्यों पगला रहे हो? हमारे खानदान में नहीं चलता है ऐसा ! तुम्हारी चचेरी की तरह नहीं हूँ मैं। जाकर दूसरे घर बैठ गयी। इतने पर भी छक नहीं होती। मैत्या यार....। चार दिन ससुराल, चार दिन मायके....।'

'उसने विधवा होने के बाद दूसरी शादी की। तुम....।'

'मैंने क्या कर दिया?'

'देखो, शादी के एक महीने में ही मुझे तुम्हारी आदत मालूम हो गयी थी। मैं समझाता रहा, शादी से पहले जो हुआ सो हुआ, अब खानदान का लिहाज़ किया करो। तुम नहीं मानी। पिछले इतवार को वापस जाते समय समझा गया था, हरपालसिंह का इस तरह मसखरी करना अच्छा नहीं है, लेकिन आज फिर वही कारनामे।'

'अब तक मैं चुप हूँ। आगे कुछ कहा तो....।'

'तू चुप है लेकिन तेरे कुकरम चुप नहीं हैं।'

'मरद हो तो घर से निकाल दो। रख दो चौराहे पर।'

'इसी इंतज़ार में बैठी है क्या?'

'मरद को मरद की तरह बात करनी चाहिये। घीं-घीं शुरू कर दी।' वह अपनी ऊँची आवाज़ तथा तीखे शब्दों से पति को निरुत्तर करना चाहती है।

'मास्टर रावत इलाके का नामी गुंडा है। चक्की वाले की लड़की को...उसकी माँ से आज भी उसकी दोस्ती है। इतिहास का लेक्चेरर अँग्रेजी पढ़ाने क्यों रखा है? अँग्रेजी वाले को बुलाती। लेकिन नहीं, रावत ही चाहिये।'

'बोलते रहो, जो जी में आये बोलो।'

'पहाड़ के गाँव में ट्यूशन पढ़ाने का चलन तुम शुरू कर रही हो। तुमने इंटर पास किया, कभी ट्यूशन पढ़ी?'

'बच्चों का बेस मजबूत....।'

'अपने बेस की बात कर।'

पत्नी झल्ला उठी। एकाएक पागलपन में चिल्लाने लगी, 'तुमको जो करना है, कर लो।' गुस्से में आकर बोली, 'तू अपने को क्या समझता है? रावत मेरा यार है, जा ! यादव भी यार है, जा। हरपाल को बुलाती रहूँगी, क्या कर लेगा?' रोना शुरू कर देती है। तैश की रुलाई के साथ,

'आज छोड़ती हूँ तेरा घर-बार। अपनी माँ, बहन के साथ रहना।' उठकर बड़े संदूक को खोलती है। उसमें से अपने कपड़ों को निकालती है, 'आधी रात में छोड़ जाऊँगी तेरे घर को। आज, अभी।'

हयातसिंह अपने गुस्से पर नियंत्रण करता है। वह नहीं चाहता कि गाँव में उसके ख़ानदान की बदनामी हो। उठ कर वह पत्नी का हाथ थामता है। घसीटकर चारपाई पर ले आता है। पत्नी का उद्वेग बढ़ता जाता है, 'मारेगा? ले मार ! मार कमीने ! मार दे ! जान से मार दे ! इसी क्रोध में वह पति के चेहरे पर नाखून गड़ा देती है। हयातसिंह ने उसको एक लात मार दी। वह चारपाई से गिर जाती है। वह फिर उठता है और दूसरी लात जमा देता है। पत्नी बेहोश-सी हो जाती है। हयातसिंह उसका हाथ खींचकर फिर पलंग पर ले आया है। वह दर्द के कारण आवाज़ नहीं निकाल पाती। हयातसिंह एक थप्पड़ उसके बाएँ गाल पर जमाता है।

सारी रात झगड़ों में बीत जाती है। बच्चे अलग कमरे में सोये रहते हैं।

यह पहला मौका है जब हयातसिंह एतवार की सुबह एकेश्वर जाने को तैयार हो गया है। शनिवार को आकर सोमवार को लौटना उसका नियम रहा था।

'मैंने कह दिया आज चली जाऊँगी। अपनी इ़ज़्ज़त-आबरू का धुआँ देखते रहना।' पत्नी अपनी अटैची में कपड़े सँभालते हुए कहती है।

सुबह हो रही है। बच्चे उठ रहे हैं। बड़ी बेटी पन्द्रह साल की है। हाई स्कूल में पढ़ती है। दस बजे का स्कूल है। नौ बजे तक होमवर्क पूरा करके खाना तैयार करना है। उठते ही गागर लेकर पनघट चली जाती है। महिलायें पनघट के निकट वाले जंगल में प्राकृतिक नियमों से निवृत्त होती हैं। पुरुष गाँव से लगे दूसरे जंगल की ओर जाते हैं। ग्रामसेवक जी ने मकान के किनारे टॉयलेट बनवाया है। वक्त-बेवक्त, दुःख-सुख में उसका प्रयोग होता है। वे स्वयं बड़े लोटे में पानी भर जंगल की ओर चले जाते हैं।

सुबह के छः बज रहे हैं। सात बजे की बस है। एक घंटे के भीतर उन्हें तैयार होकर बस में बैठ जाना है।

जब वे शौच से लौटते हैं, उनके लिए बाथरूम में टूथ-पेस्ट, साबुन, तौलिया, नहाने के लिए गरम पानी रख दिया गया है। नहाकर तैयार होने लगते हैं। बच्चों को बता दिया है कि आवश्यक काम से जा रहे हैं। नाश्ता अनमने मन से करते हैं।

लड़की अपनी उम्र से पहले ही जवान होती दिखाई दे रही है। न चाह कर भी वे उसके अवयवों पर निगाह डालते हैं। मन-ही-मन कुढ़न होती है। लड़के स्वस्थ हैं और संतुलित वय का प्रमाण देते हैं।

जिस-जिस समय हयातसिंह को पत्नी एकान्त में मिलती है, तब-तब खुद के मायके चले जाने की धमकी देती रहती है। उन पर लगता है जैसे कोई असर नहीं पड़ता। वे चले जाते हैं। बच्चे माता-पिता के झगड़े से बेखबर हैं।

हयातसिंह के चले जाने के बाद दिनचर्या में अंतर नहीं आता। रावत और यादव पढ़ाने के लिए आते रहते हैं। हरपालसिंह का व्यवहार वैसा ही है। गृहस्थी का चर्खा पूर्ववत् है।

हयातसिंह ग्रामसेवक एक महीने में घर आया है। शनिवार की ही शाम है। तिबारी में वही रौनक है। हुक्का भरा हुआ है। चाय की केतली भर-भरकर आती है, खाली होकर नीचे रसोई में जाती है। पत्नी खुश है।

सामान्य-सा हो गया है सब कुछ। बच्चे सो गये हैं। पत्नी दूध का गिलास लेकर आती है। उसे लैम्प के पास मेज पर रखती है। हयातसिंह गम्भीर है। वह पिछली बातें नहीं दोहराता। पत्नी में कोई परिवर्तन नहीं है। वह पति से दूध पीने को कहती है। ग्रामसेवक स्नेह व्यक्त करते हैं, 'आधा तुम पी लो।'

'मैंने भदेली चाटते समय पी लिया। बच्चों को दिया तभी भदेली चाट ली थी। हम रोज पी रहे हैं। सारी भैंस अपने लिए है। थोड़ा-बहुत दही जम जाती है। बच्चों के लिए घी हो जाता है।

हयातसिंह गर्म गिलास को ठंडा होने के लिए रख देते हैं।

सुबह ग्रामसेवक के घर में रोने का स्वर सुनाई पड़ता है। गाँव वाले उनके आँगन में जमा होने लगते हैं। घटना की सूचना आग की तरह फैलती है। पटवारी भागा-भागा आ धमकता है। पंचायत बैठती है। रोने वाले थक जाते हैं। आँसू सूख जाते हैं।

जनता में से पाँच-सात लोग कई बार एक किनारे जाकर बातचीत करने के बाद किसी फैसले को लेकर लौटते हैं। उपस्थित लोग उनकी राय मान जाते हैं। आम जनता के साथ पटवारी सहमत हो जाता है। वह पंचों की राय सुनता है, 'होनी पर किसका वश चला। मामला उठाओगे, गाँव बँधकर पौड़ी जायेगा। जमानत नहीं हो पायेगी। इसलिए पंचायतनामा करके केस रफा-दफा कर देते हैं।'

प्रधान घबराया हुआ है। 'क्वी बात नै पंचैतनामा कैर देंगे? पर भाई जब से सुकई गाँव में पुलिस थाणा खुला, पुलिस चौकी बणी, बात-बात पर धपरोल हवै जाता है। जजमान-बामणी, खस्या-भटड़ा, 'ख', 'ब' का टंटा कौन दबाता रैगा? फुण्ड्यानाथों का जमाना है। मी कुछ नै कैता। कर्लो जो कर्ना है।'

पटवारी विश्वास दिलाता है, 'फण्ड्यानाथों की ऐसी की तैसी। मैं आप लोगों के साथ हूँ। पुलिस का हमने क्या करना है। आप जानते हैं कि सरकार ने हमें पुलिस तथा रेवेन्यू दोनों पावर्स दी हैं। आप क्यों कमजोर होते हैं। हमारे साथ बूँगीधार डिस्पेन्सरी के डॉक्टर साहब, कम्पाउडर साहब तथा मिडवाइफजी हैं। हम देख लेंगे।'

आफत आई है। ठंडियों के दिन हैं। सुबह की हवा बदन चीर जाती है। लोग पटवारी का चेहरा देखते हैं।

रिकसाल और स्यूँसाल गाँव के पढ़े-लिखे तथा नेता आदि बिनसर महादेव की ओर हाथ जोड़ते हैं। केशवानंदजी का प्रभाव है। वे चौथान के पिछड़ेपन पर कुपित होते हैं, 'यहाँ बिनसर की कृपा है। उसी के सहारे जी रहे हैं। व्यवस्था का परमात्मा रखवाला है। न जाने किन पापों का दण्ड है? बिनसर देवता ! इस इलाके को बचा दे। किन्नरों और देवताओं की इस धरती में राक्षस जन्म लेने लगे हैं।'

ऐसे संकट की घड़ी में लोग उनकी बातों को सुनते रहते हैं। चौड़े शरीर के केशवानंदजी की पहुँच बहुत लम्बी-चौड़ी है। उन्होंने अपनी राय दी, 'पटवारी जी का अपना अनुभव है। चौथान की पचास हत्याओं को हमने नज़दीक से देखा है। एक भी मामला ऊपर नहीं उठा। या तो राजीनामा हो गया या जबर्दस्ती दबा दिया गया। आज की घटना खुद में अन्धेर है। परमात्मा ने बज्र गिरा दिया गाँव में। ठीक है पंचायतनामा कर दो लेकिन डॉक्टर साहब को कहो कि वे जाँच करें। यह सब कैसे हो गया उसका संकेत दें।'

डॉक्टर, कम्पाउडर, मिडवाइफ, पटवारी तथा पंडित केशवानंद कमरे में गये। एक-एक सामान गौर से देखा गया। दूध के गिलास पर नज़र पड़ी। उसमें बची चार-छः बूँदें कुत्ते को दी गईं। कुत्ता पीने के थोड़ी बाद बेहोश हो गया। मिडवाइफ ने चारपाई के पास लकड़ी का डण्डा देखा। वह खून से लतपथ था। लाश पर चोट के निशान हैं।

डॉक्टर ने केशवानंद के कान में कहा, 'पंडितजी इस कमबख़्त ने डण्डे से. . . .। औरत जैसी थी उसे इलाका जानता है। तड़पा-तड़पाकर मारा गया है इसे। सारी सनक उतार दी। ऐसा लगता है दोनों पर खून का भूत चढ़ा था। डंडे से काम तमाम करने के बाद ग्रामसेवक ने दूध पिया होगा। क्या पता उसने सोचा हो कि. . . .।'

चारों तरफ सनसनी फैल जाती है। दोनों लाशों को एक साथ बाँधकर मरघट की ओर ले जाया जाता है। बच्चे रो रहे हैं।

क्यों

आभा कुलश्रेष्ठ

कुछ बहरे हैं कुछ गूँगे
अब किसकी कौन सुने
दैनिक पत्र पढ़े,
आह भरी और मौन गुने
कौन कर रहा मानवता
पर आज प्रहार
कौन चलाता प्रकृति
सम्पदा पर पैनी तलवार

जंगल हो या शहर
हर जगह अत्याचारी
मासूमों पर करते वार
क्यों जो चाहे स्वयं
सदा ही सुख से सोना
राह पराई में क्यों चाहे
सदा ही काँटे बोना।

स्वाधीनता और साहित्य

डा. रमेशचन्द्र शाह

प्रस्तुत विषय की देहरी पर ही एक ओर तो निराला की 'प्रिय स्वतंत्र रव, अमृत-मंत्र नव, भारत में भर दे.....' और प्रसाद की 'हिमाद्रि-तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती, स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती....' जैसी काव्य-पंक्तियाँ मन में घूम रही हैं और दूसरी ओर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के दो बीज-ग्रंथ जिन्हें कहना चाहिए - गाँधी जी का 'हिन्द स्वराज' और श्री अरविन्द का 'फाउण्डेशन्स ऑफ इण्डियन कल्चर' उनका भी उतना ही स्वतः स्फूर्त और अनायास स्मरण हो रहा है। इसका क्या मतलब है? यही न, कि तात्कालिक संदर्भ स्वाधीनता का भले ही विदेशी आधिपत्य से देश को छुटकारा दिलाना रहा हो, स्वयं स्वाधीनता की अवधारणा हमारे कवियों और राष्ट्र-निर्माताओं की, उस तात्कालिक संदर्भ से कहीं अधिक - बहुत अधिक व्यापक और गहरी थी। राजनैतिक स्वाधीनता तो परिस्थिति का तथ्य है, किन्तु मानसिक स्वाधीनता का - सांस्कृतिक आत्म-विश्वास के पुनर्जागरण से उत्पन्न मानसिक स्वाधीनता का - जहाँ तक प्रश्न है, वह तो हमारे साहित्य में सन् १९४७ से काफी पहले ही अभिव्यक्त होने लगी थी जैसा कि उपर्युक्त कविताओं के अंतःसाक्ष्य से ही प्रकट हो जाता है।

जहाँ तक साहित्यकार की स्वाधीनता की बात है, उसके लिए तो स्वाधीनता मूलभूत मूल्य है। उसकी मनुष्यता और उसकी स्वतंत्रता दोनों परस्पर अविच्छेद्य हैं। हमारे आध्यात्मिक वाङ्मय में 'मुक्ति' के पुरुषार्थ का जैसा जो विवेचन और अनुभव मिलता है, उससे इस बात का संबंध देख पाना कठिन नहीं है। भले वह एक उच्चतर आयाम का अनुभव हो साहित्य की तुलना में, उससे असम्बद्ध या असंगत वह कदापि नहीं है। 'मुक्त' की मुक्ति दूसरों को यानी बन्धनग्रस्त अपने ही जैसे मनुष्यों को मानव-मात्र को अपनी 'मुक्ति' के अनुभव में साझीदार बना कर, उन्हें भी अपनी मुक्ति की पात्रता का अनुभव कराके ही सार्थक होती है - 'मुक्तश्चान्यात् विमोच्येत्' का यही अभिप्राय है। इसे आप साहित्यकार के अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से मिला कर देख सकते हैं। अज्ञेय ही मसलन, - जो साहित्यकार के साथ-साथ हमारे स्वाधीनता संग्राम के सेनानी भी रहे - देखिए, इस विषय में क्या सोचते हैं। जंगल में एक पूर्ण विकसित महावृक्ष के साक्षात्कार से जो स्वाधीनता का बोध उनमें जगा, उस संदर्भ में वे कहते हैं - 'स्वाधीन होना अपनी चरम संभावनाओं की सम्पूर्ण उपलब्धि के शिखर तक विकसित होना है। लेकिन....उस महावृक्ष का वाहन होने का एक अर्थ यह भी है कि उसके बोध के साथ-साथ उन असंख्य बौने और बुच्चे पेड़ों के जंगल का भी एक बोध भीतर धधक उठता है, जिनसे हम निरन्तर घिरे रहते हैं - जिन्हें निरन्तर अपने आस-पास देखते हुए हर कोई अपने से ही यह पूछने को लाचार होता है, 'तब क्या मैं भी अपने को स्वाधीन मान सकता हूँ? क्या कोई अकेला स्वाधीन हो सकता है? क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओं को ऐसे ही परिवेश में पा सकता है, जिसमें दूसरे भी अपनी चरम सम्भावनाओं को पूरी तरह प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वाधीन हों। और ठीक यहीं पर स्वाधीनता का ऐसा बोध मानों तपस्या की यंत्रणा बन जाता है, क्योंकि वह मानव मात्र की समान स्वाधीनता के प्रयत्न की अनिवार्यता बन जाता है....।

इसी में आगे अज्ञेय दो बातें और जोड़ते हैं - एक तो यह, कि स्वाधीनता की सच्ची कसौटी 'मैं नहीं, 'ममेतर' है; ममेतर के दर्पण में ही मुझे मेरी अपनी अस्मिता का सच्चा प्रतिबिम्ब दीख सकता है। दूसरी - इसी में से निकलने वाली बात यह है कि दूसरे प्रकार के बौद्धिकों से साहित्यकार को जो चीज़ अलग करती है, वह उसका समाज के प्रति विशेष उत्तरदायित्व है। उदाहरण के लिए वैज्ञानिक एक ऐसे समाज में भी स्वाधीन हो सकता है, जो समाज स्वाधीन नहीं है, (अर्थात् किसी सर्वसत्तावादी शासन-तंत्र के आधीन है - वह चाहे कम्युनिस्ट तंत्र हो, चाहे फासिस्ट तंत्र)। किन्तु साहित्यकार ऐसे समाज में स्वाधीन नहीं हो सकता, जो समाज स्वाधीन नहीं है; ज़ाहिर है कि साहित्यकार का समाज के प्रति यह विशेष उत्तरदायित्व शासन के मुकाबले में खड़े होकर ही निभाया जा सकता है। यानी, उसे अपनी हैसियत एक निर्बंध प्रतिपक्षी की बनानी होगी।'

यह एक विचित्र विडम्बना है कि साहित्य की इस 'निर्बंध प्रतिपक्षी' वाली भूमिका के निर्वाह का जिनका जैसा स्वतः स्फूर्त उत्साह और आत्म-विश्वास हमें स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में दिखाई

देता है, वैसा स्वातंत्र्योत्तर (कहना चाहिए 'दास्योत्तर) युग में कम ही दिखता है। जो लोग अपने 'प्रतिपक्षी' होने के सबसे ज़्यादा तूमार बाँधते हैं और सबसे ज़्यादा प्रचार-प्रसार के साधन हथियाए हुए हैं, वे निर्बंध होने की उक्त कसौटी पर बिल्कुल खरे नहीं उतरते। न केवल यह, कि स्वाधीनता जैसे मूल्य की मूल्यवत्ता ही उसके लिए संदिग्ध है, बल्कि वे उसे उसके स्त्रोत पर ही कुंठित किए देते हैं। यह अकारण नहीं कि पिछले कुछ दशकों के दौरान हमारे समाज की अपनी स्वतः स्फूर्त पहल सभी क्षेत्रों में लगातार छीजती गई है और एक तरफ सरकारी तंत्र, तथा दूसरी तरफ विशुद्ध व्यावसायिकता का जाल हर तरफ कसता गया है। पर ऐसे लेखकों को इसकी चिन्ता नहीं सताती, क्योंकि जैसा कि 'हिन्द स्वराज' के लेखक ने बहुत पहले ही देख लिया था, वे जिन लोगों की बात करने का, उनके उद्धार का दम भरते हैं अपने खोखले, परोपजीवी रेह्टरिक में, उन्हें वे जानते ही नहीं वास्तव में? उनके जीने-मरने की लय से उनका वैसा सीधा रिश्ता ही नहीं है जैसा 'लोग भूल गये हैं' के कवि रघुवीर सहाय का या 'साखी' के कवि विजयदेव नारायण साही का दिखता है। जिन्हें एक वास्तविक समाज में अपनी अवस्थिति का ही नहीं, स्वयं उस समाज के वास्तविक अन्तःकरण का, उसके लगातार प्रवंचित किये जाने का भी तीखा अहसास है। उनके लिए उनका समाज सगुण मानव-व्यक्तियों से बना हुआ समाज है, न कि एक ऐसी भी, जिसे मन-माफ़िक बदलने को उनकी आडियोलॉजी काफी है। ऐसा नहीं कि स्वयं उनके पास कोई विचारधारा न हो, समाज को बदलने वाले विचार न हों या कि वे किसी अ-राजनीतिक कलादृष्टि के आग्रही हों। उन्हें न केवल अपने लोगों को संगठित करने की चिन्ता है, बल्कि उनमें वह समझ भी विकसित करने की चिन्ता है, जिसके बूते वे स्वाधीन आलोचना कर सकें - ऐसी आलोचना, जो उन्हें मात्र निष्क्रिय प्रतिरोध से आगे ले जाये और साथ ही उन्हें हर तरह के बौद्धिक और भावनात्मक शोषण से भी सतर्क-सावधान रहने की क्षमता भी प्रदान करे। इसी आत्मचेतना के चलते रघुवीर सहाय जैसा कवि 'लोग भूल गए हैं' नामक कविता-संग्रह में उन लोगों की ख़बर लेता है, जो समाज को बदलने का बीड़ा तो बेशक उठाए हुए हैं, पर जिनकी खुद की जड़ें अपने समाज और संस्कृति में नहीं हैं, कहीं अन्यत्र हैं - **'आज के समाज का मानस यही है**

कहते हो तुम इस कविता में

बिना यह जाने हुए कि कितना जानते हो तुम इस समाज को' **(लोग भूल गए हैं)**

इस काव्य-संग्रह की भूमिका में रघुवीर सहाय ने एक बड़ी काम की बात कही थी, जो मुझे प्रस्तुत प्रसंग में स्मरणीय और उद्धरणीय भी लग रही है। वह यह, कि 'यथार्थ की हमारी समझ इस समझ के बिना अधूरी है कि लेखन में आदर्श की इच्छा इसी यथार्थ को किस रूप में जान कर जागृत हो सकती है।' मुझे लगता है यह एक सही कसौटी है आज लिखी जा रही कविताओं-कहानियों को भी जाँचने-परखने के लिए। दरअसल मनुष्य की - सत्य और असत्य की किसी एक व्याख्या और समाधान के आगे ढेर हो जाने पर खुद के आत्म-केन्द्र को जाँचने की चुनौती ही ख़त्म हो जाती है। तब फिर यह जानने-महसूसने की भी ज़रूरत नहीं रह जाती कि जिस जन को हम अपने पुण्यासक्त वागास्फलनों का आलम्बन बनाए हुए हैं, वह स्वयं कैसे अपने अनुभवों को ग्रहण करता या झेलता है या कि शब्दों के साथ उसका कैसा संबंध है? वह क्या सुनता-गुनता या पढ़ता रहा है, इससे आपको कोई लेना-देना नहीं। उसी तरह आप सरीखे उसके त्राणकर्त्ता क्या पढ़ते-गुनते रहे हैं, यह भी आपके लेखे उसके लिए अप्रासंगिक ही होने चाहिए। आपकी पढ़ाई-लिखाई से जिस तरह आपके किए-अनकिए सारे पाप धुल गए हैं, उस तरह आपको पढ़ कर, बल्कि आपको बिना पढ़े भी - उसका उद्धार निश्चित है। रधुवीर सहाय जैसे कवि-कथाकार लाख चिल्लाते रहें कि 'देश अपार से ज़्यादा अथाह है, गहरे में जाकर एक ताकत ले आओ' - उनका यह आत्मोद्‌बोधन अथवा सम्बोधन इन परजीवी पुण्यात्माओं के किसी काम का नहीं है, क्योंकि देश के अथाह में गोता लगा के ताकत ढूँढने की ज़रूरत ही क्या है, अगर वह ताकत हमें विदेश की थाह के उथले में हाथ-पाँव मार के ही सुलभ हो जाए।

तो, एक तरफ वे लोग हैं, जो जन के जीवन से अनजान रहने में ही सुरक्षित रहते हैं और दूसरी तरफ वे हैं, जो 'अनुपस्थित लोग' है निरुपाया और डरे हुए। ऐसा समाज अपने लिए उपयुक्त राजनीति खोज सके, इसके लिए भी पहले यह ज़रूरी है कि वह अपनी चेतना-संवेदना की भोथरी पर गई जगहों को खुद देखे-समझे और अपने पारस्परिक संबंधों की असलियत को भी। साहित्यकारों यानी उनके भाव-जीवन के घनिष्ठ साहित्यकारों से अधिक उन्हें अपनी भाव-सत्ता की, स्वावलम्बी विचार-सामर्थ्य की भी सच्ची पहचान भला और कौन करा सकता है? साहित्यकार को अपने समाज, अपने

'जन' को आख़िर उन प्रपंचियों से भी तो बचाना है, जो अमरबेल की तरह, जोंक की तरह उसके अपने लोगों की जिजीविषा और सांस्कृतिक सहजबुद्धि से चिपके हुए हैं। न केवल उनके 'यथार्थ' से, बल्कि उनके 'आदर्श' से भी दोनों को विकृत और कुंठित करने का बीड़ा उठाए हुए। इसीलिए वह उनसे कहता है - अपने लोगों से कि 'एक बहुत बड़े षड्यंत्र के बीच में अपने घर में रहने वालों से रिश्ते बनाओ और सुधारो।' ऐसे कवि को यह कुतुहल या रहस्य नहीं सताता कि वह गए जन्म में क्या था। हाँ, यह सवाल ज़रूर सताता है कि पिछले बीस वर्षों में उसके साथ क्या हुआ है? ज़रूरी इतिहास-बोध उसके लिए यह है। या कह लीजिये उन सारे गूँगे-बहरे करोड़ों के लिए, जिनकी अव्यक्त पीड़ा और प्रवंचना को वाणी देना उसका काम है। 'पाप से घृणा करो, पापी से नहीं' के अवमूल्यित अमूर्त्त आदर्शवाद के बदले यह ऐसे जनोन्मुखी-जनसंवेदी, किन्तु सुदृढ़ आत्म-केन्द्र वाले कवि की ख़ास अपनी सगुण साधना और आत्मा की कॉमनसेंस ही है, जो उससे कहलवाती है कि -

और अगर चेहरे गढ़ने हों तो अत्याचारी के चेहरे खोजो अत्याचार के नहीं
इसको हम जानते बहुत हैं, वह अब भी छिपता फिरता है ('रंगों का हमला' - रघुवीर सहाय)

यह अमूर्त्त जनवाद के विरुद्ध जीते-जागते लोगों के साथ किए गए मूर्त्त अन्याय का मूर्त्त साक्षात्कार करने का आग्रह है। इसलिए, कि अत्याचार का अमूर्त्तन अपने आपमें एक अत्याचार है। इसी तरह 'सा विद्या विमुक्तये' के मानवीय अर्थ को आज के सन्दर्भ में अपने लिए खोजना - उसके भ्रष्ट हो जाने को - आज इस वक्त जिए जा रहे जीवन के सगुण दृष्टांतों से उपजी समझ के द्वारा - रेखांकित किया जाना भी उतना ही आवश्यक है। **'यह जो समझ है इतिहास की भ्रष्ट है**
यह अत्याचार को शाश्वत् रखने की
अन्यायी भाषा है कि जिसके प्रतिष्ठान में विद्या बंद है
विद्या जो हमें मुक्त करती है वह विद्या'

अंतहीन पीड़ा और असंगठित आलोचना के इस निर्जन में कवि कुछ ज़िन्दा हरकतें उपजाना चाहता है। 'यही वक्त है अभी कुछ करो नौजवान' - वह कहता है अपनी 'कार्रवाई' शीर्षक कविता में। और हमारे समाज में उपर्युक्त अगतिकता और संदिग्ध गतिशीलता के बीच जो एक नाज़ायज-सा रिश्ता बन गया है, उसे भी दुरुस्त करने का उपक्रम करता है - **'यही वक्त है अभी कुछ करो नौजवान, और उस और के दुःख भरे जीवन में पैठ जाओ, यही मौत के ख़िलाफ, अपनी मौत के ख़िलाफ, एक काम है जो कर सकते हो,'** कवि यह क्या कह रहा है, किससे कह रहा है? क्या यह सच नहीं कि दूसरों को बदलने के लिए आतुर लोग अपने को बदलने की कोई ज़रूरत नहीं समझते? वह अपने साथ कुछ नहीं करते; मगर 'दूसरों के साथ सब कुछ कर डालना चाहते हैं। रघुवीर सहाय सरीखे कवि ऐसे क्रांतिकारी लेखकों को अच्छी तरह पहचानते हैं - **'मुझे विश्वास नहीं है**
मेरे जीते जी
यह देश क्यों, कोई भी देश
अपने मनुष्यों को आदमी बना लेगा
क्रंतिकारी लेखक को आशा है
कि औरों पर उसका अविश्वास
उसको तो उसके ही जीवन में
एक बड़ा आदमी बना देगा।'

इसी सिलसिले में - 'यानी स्वाधीनता और साहित्य' विषय से उभरने वाले सवालों के सिलसिले में - मुझे यहाँ प्रसिद्ध निबंधकार और लोक-संस्कृति मर्मज्ञ पं. विद्यानिवास मिश्र के कृतित्व का भी स्मरण कर लेना प्रासंगिक लग रहा है। 'सपने कहाँ गए' शीर्षक उनकी लेख-माला अभी दुबारा पढ़ने की प्रेरणा हुई, जिसमें स्वाधीनता-प्राप्ति के निकटपूर्व का और उसके तुरंत बाद के परिदृश्य का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है और ऐसी उद्वेलनकारी बातें सामने आती हैं, जो देश की परिस्थिति और संस्कृति दोनों के प्रति संवेदनशील एक साहित्यकार ही इस तरह सामने ला सकता था। एक जगह वे कहते हैं - 'स्वाधीन होने का यह अर्थ नहीं है कि हम केवल अपने प्राचीन गौरव का राग अलापते रहें। अपनी सक्रियता और जीवंतता का प्रमाण अपने समय के अनुभवों से न दें। हम या तो अपने बारे में बिना सोचे-समझे व्यर्थ की डींग हाँकते हैं या अपनी क्षमता की उपेक्षा करके हीन भाव से ग्रस्त रहते हैं। दोनों स्थितियाँ एक स्वाधीन देश के लिए भयावह हैं।' घटियापन को प्रश्रय देने वाली हमारी

दास मानसिकता को यथातथ्य उघाड़ते हुए वे दर्शाते हैं कि किस तरह इस स्वातन्त्र्योत्तर युग में सबसे ज़्यादा अनदेखी उन्हीं की हुई, जिनका योगदान इस देश और समाज के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। इस मानसिक दरिद्रता के चलते, उनका कहना है और बिल्कुल सही कहना है कि 'हमारे विश्वविद्यालय केवल कारखाने बन कर रह गए हैं और अधिकांश साहित्यिक संस्थाएँ भी दुकान बन के रह गई हैं।' ऐसा नहीं कि देश में सृजन-प्रतिभा और प्रयोगशीलता का कोई टोटा पड़ा हो। पर देश-व्यापी आत्म-सजगता के अभाव में उसे पहचानने की तत्परता का अभाव है। क्यों नहीं है ये आत्म-सजगता, इसका बहुत ही सटीक उत्तर वे यह देते हैं कि 'देश का एक विशाल भाव नहीं है।' पं. विद्यानिवास मिश्र अनुभव करते हैं कि 'रचनाशीलता के लिए जातीय भाव आवश्यक है, जो विश्व-बंधुत्व का विरोधी नहीं, पोषक होता है। साथ ही, व्यक्ति को भी कुंठित नहीं, समृद्ध करता है।' कहने की बात नहीं, पर कहे बिना रहा भी नहीं जाता कि यह सहज विवेक हमारे अधिकांश बुद्धिजीवियों की गतिविधियों में नहीं झलकता। इस तथ्य को कैसे झुठलाया जा सकता है कि 'विगत पचास वर्षों में हमारी रचनाशीलता विचारों के लचरपन से और झूठे विवादों में फँस कर बुरी तरह प्रभावित हुई है।' समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर हावी खेमेबाज़ी-गुटबंदी को भी पं. विद्यानिवास मिश्र ने यथातथ्य लक्षित किया है और आधुनिकता - उत्तर आधुनिकता के बीच चलाए जा रहे अप्रासंगिक विवाद को भी। उनकी यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि 'हमारी आधुनिकता में केवल प्रश्नाकुलता, संशय या अनास्था नहीं थी; कहीं उसमें सामान्य की क्षमता में एक दृढ़ विश्वास भी था और यह विश्वास मध्ययुगीन साहित्य की विरासत के रूप में था।' यह भी, कि 'तीन से चार, चार से पाँच पुरुषार्थों की अवधारणा हमारे उस स्वाभाव के साथ सर्वथा मेल खाती है, जो निरन्तर अपने को समझते हुए अपना अतिक्रमण करता है। अपनी अपर्याप्तिता को पहचानना हमारी आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता है; परंतु स्वाधीन विवेक के अभाव में हम यह भूल जाते हैं कि हमारे पास ऐसी पहचान है' यहाँ मुझे बरबस अपने गुरु स्व. विजयदेवनारायण साही की भी याद आ रही है, जिनका पक्ष भी इसी स्वाधीन विवेक का ही पक्ष था और जिन्होंने एक महत्वपूर्ण गोष्ठी में 'साहित्य क्यों?' विषय का प्रवर्तन करते हुए लगभग इसी स्वर में प्रश्न उठाया था कि 'इस सारी बिडम्बना के भीतर से हमारी पर्याप्ति प्रतिक्रिया की आवाज़ क्या है?' विस्तार भय से मैं यहाँ साही जी के कवित्व और विचारों की चर्चा का लोभ संवरण करते हुए मात्र उनके दो महा-निबंधों का उल्लेख भर यहाँ पर टाँकना चाहता हूँ। एक तो 'लघुमानव के बहाने हिन्दी साहित्य पर एक बहस' तथा दूसरा 'धर्मनिरपेक्ष की खोज में' शीर्षक व्याख्यानमाला।

यह भी पं. विद्यानिवास मिश्र का मात्रा-ज्ञान ही है, जो उनसे एक ऐसी 'ऐतिहासिक भूल' की ओर भी संकेत करवा लेता है, जो हममें से कइयों के लिए 'भूल' की तरह स्वीकार्य नहीं होगी। उनका कहना है कि 'यदि हम पं. नेहरू की बात मान लेते और हिन्दुस्तानी को स्वीकार कर लेते और आचार्य नरेन्द्र देव के सुझाव के अनुसार एक लिपि रखते, तो अपने आप एक भाषा ढलती चली जाती और शायद सन् पचास से वही भाषा सारे देश की भाषा होती।' बड़ी विस्मयकारी लगेगी - पं. मिश्र के प्रशंसकों तक को उनकी यह बात। और हममें से अधिकांश लोग उससे सहमत भी नहीं होंगे। किन्तु इस बात के पीछे जो दर्द बोल रहा है, उसे तो वे भी लक्ष्य किए बिना नहीं रह सकेंगे। वह दर्द यह, कि 'हमने हिन्दी को स्वीकार करके भी उसे निरवधि बनवास में डाल दिया।' इसी तरह वे राज्यों के पुनर्गठन की भी तीखी आलोचना करते हैं, जो उनके कथनानुसार 'हिन्दी की भारत-व्यापी पहचान के विरुद्ध अभिसंधि थी।' कितना अपरिणामदर्शी और आत्मघाती निर्णय था वह, यह देखना अब अंधों के लिए असम्भव होगा। इसी से जुड़ा उनका एक लेख और है 'देश को क्यों भुला दिया राष्ट्रवाद ने' शीर्षक, जिसमें विद्यानिवास जी जयशंकर प्रसाद की स्वाधीनता के काफी पहले लिखी गई कविता 'पेशोला की प्रतिध्वनि को उद्धृत करते हैं - **'बोलो कोई बोलो अरे, क्या सब मृत हो?'**....

और कहते हैं -

इन पंक्तियों में केवल राणा प्रताप नहीं झाँक रहे हैं। अन्तिम दिनों में अकेले पड़ गए गाँधी जी भी झाँक रहे हैं।...संसद में और संसद के बाहर निपट अकेले पड़ गए कुछ देश-भक्त नेता भी इन पंक्तियों में झाँकते हैं; जिन्होंने स्वतंत्रता सेनानी का तमगा नहीं लिया, जिन्होंने स्वतंत्रता के ठेकेदारों से कभी समझौता नहीं किया। सच्चिदानंद वात्स्यायन, राममनोहर लोहिया - जैसे लोग ऐसे ही अकेले पड़ गए लोग थे। पर ये ही अकेले पड़े लोग हिन्दुस्तान की जनता को जोड़ने वाले लोग हैं। ज़रूरत

इसी बात की है अगर लोग न मिलें, तो अकेले भी, अकेले ही बिगुल लेकर चला जाए। जोख़िम उठाया जाए कि लोग कहें - 'पागल' है। और जोरों से कहा जाए कि तुम्हीं देश हो, तुम्हीं इस देश की आँख हो, तुम्हीं इस देश के हाथ-पैर हो। देश के साधारण लोगों ! तुम क्यों दूसरों के चलाए-दिखाए पर चलते-देखते हो? इस गलत दृष्टि देने वालों को, गलत चाल सिखाने वालों को तुम सीधे नकार क्यों नहीं देते?

यह काम देश में आरम्भ होना चाहिए। किसी को तो आरम्भ करना चाहिए। यों देखने में यह काम असंभव लगता है, पर जहाँ सम्भावनाएँ इतनी चुक गई हैं, वहाँ शुरुआत तो असंभव से ही होगी। हमने अभी थोड़ी देर पहले रघुवीर सहाय की कविता 'कार्रबाई' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की थीं - **'यही वक्त है अभी कुछ करो नौजवान. . .।'** उससे इस बात को मिला कर देखें तो दो परस्पर नितांत भिन्न प्रकृति के साहित्यकारों के बीच उभयनिष्ठ यह आविष्ठ स्वर क्या जताता है, स्वाधीनता और साहित्य के गहरे अन्तर-संबंधों को किस तरह उजागर करता है, क्या यह ध्यान देने की बात नहीं है?

अपने लड़कपन के दिनों की याद करते हुए पं. विद्यानिवास मिश्र उसी लेखमाला में एक बड़ी मार्मिक बात कहते हैं, जो हमें प्रस्तुत विषय के संदर्भ में कुछ और गहरे जाकर विचार करने को - अपनी वर्तमान सांस्कृतिक दुरवस्था के कारणों में जरा और गहरे उतर कर विचार करने को उकसाती है। वे कहते हैं कि - **'देश उस समय राष्ट्र से अधिक व्यापक था, क्योंकि देश किसी का अनुवाद नहीं था।'** पण्डित जी के गुरु प्रो. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने उन्हें अपने सहपाठी सुभाषचन्द्र बोस के बारे में जो कुछ बताया, उससे भी उनके मन पर यही छाप पड़ी कि **'उनके यहाँ देश की कल्पना केवल राजनीतिक नहीं थी, वह सम्पूर्ण चेतना को समेटती थी।'**

बात दरअसल इस संपूर्ण चेतना को समेटने वाली कल्पना-शक्ति और चिन्तन-सृजन शक्ति की ही है। विडम्बना यह है कि जो देश किसी का अनुवाद नहीं था, उसी पर आज अनुवादजीवी मानसिकता हावी हो रही है। जब कि हमारे देश की बात ही हिन्दी भाषा और साहित्य की बात भी है। हिन्दी जिस उत्तराधिकार को वहन करती है, वह मध्यकालीन लोक-भाषाओं के भीरत से उठे पुनर्जागरण समेत हमारी समग्र अस्मिता का उत्तराधिकार है; खण्डित नहीं, समूचा और अविच्छिन्न उत्तराधिकार। किंतु यहीं हमारे आत्म-द्रोही बुद्धिजीवियों के एक वर्ग द्वारा भारी भ्रम पैदा कर दिया गया है। **वे भूल जाते हैं कि हिन्दी का देश ही भाषाओं और संस्कृतियों के संगमों का देश है और हिन्दी उन संगमों से ही विकसित हुई है। इसी भाषा ने सारे देश में भारतीय संस्कृति को बनाये रखा, भारतीयता के बोध को लचीला और जीवन्त बनाए रखा।** किंतु आज हम समकालीनता की सतह पर समकालीनता और भारतीयता के एक ऐसे नकली द्वंद्व में उलझ गये हैं, जो असली समस्या को आँखों से ओझल करते हुए दोनों जगह में अप्रामाणिक बना देने पर उतारू है। समकालीनता और भारतीयता दोनों से हमारा संबंध इसीलिए एक जीवन्त संबंध न रह के नकल और अनुवाद का संबंध बन गया है।

जो मूलजीवी होता है, वह अनुवाद के जरिये भी आत्मविश्वास बढ़ाता है, क्योंकि उसकी मूलजीवी बुद्धिमत्ता संस्कारों का पुनःसंस्कार और मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन संभव करती है और इस तरह मात्र तर्क-बुद्धि के नहीं, बल्कि इस शब्द के तात्विक अर्थ में 'आत्मा' के जीवन की प्रगति में सहयोगी बनती है। उसका पुरुषार्थ हमें आत्म-प्रकाशक सृजन की यथार्थ संभावना के साथ अपने को ढूँढने में मदद करता है। अर्थात् वह उस आत्मोपलब्धि का निमित्त बनता है, जो सभी संस्कृतियों का सर्वोच्च लक्ष्य होता है या कि होना चाहिए। निर्मल वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'संवाद आत्मा की ज़रूरत है।' इस तर्क से विभिन्न संस्कृतियों की संवाहक भाषाओं के बीच पारस्परिक - अर्थात् - इकतरफ़ा नहीं, दो-तरफ़ा - अनुवाद का औचित्य भी इसी संवाद की ज़रूरत के भीतर से ही प्रकट होना चाहिए।

किंतु इसके विपरीत, जो अनुवादजीवी होता है, वह चाहे जितना बुद्धिजीवी, कलावादी या जनवादी हो जाए, आत्मा से दीन और परोपजीवी बनने से बच नहीं सकता। आत्मावलम्बन के अभाव और आत्मवंचना की सामर्थ्य के बीच सीधा समानुपात है। हमारे परिवेश में बुद्धिजीवी होना भी उसी का सार्थक है, जो आत्म-बोध से अनुप्राणित हो। मगर अपने यहाँ ऐसे तथाकथित बुद्धिजीवियों की कमी नहीं, जिनका बौद्धिक आचरण इस आत्म-बोध के विरुद्ध आत्महीनता को ही उकसाता है। ऐसा भी नहीं कि वे सचमुच बुद्धिजीवी (पाश्चात्य अर्थों में इण्टैलेक्चुअल) बन कर उसके साथ अनिवार्यतः लगी ज़िम्मेदारी, अनुशासन और मूल्यान्वेषण की विकलता को ही स्वायत्त कर सके हों। ऐसा भी नहीं, कि वे अपनी संस्कृति के आत्म-बोध में पड़ चुकी दरार की गहरी पीड़ा की अनुभूति के फलस्वरूप ही

उसके मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता की पुकार के प्रत्युत्तर में उस बौद्धिक संस्कृति में दीक्षित होने की ऐतिहासिक अनिवार्यता अनुभव कर रहे हों और इस तरह प्रकारान्तर से सच्चे-खरे आत्म-बोध की दिशा में ही अपनी प्राण-शक्ति को जगाने का उपक्रम कर रहे हों। नहीं, यहाँ जिनकी बात की जा रही है, वे उस अर्थ में, उस कोटि के बुद्धिजीवी भी नहीं कहला सकते, क्योंकि वे वैसी बुद्धि के मूल्यों के लिए भी कोई जोखिम नहीं उठा सकते। उठा सकते तो वे प्रकारान्तर से आत्मा के सत्य के अनुसार ही नई चेतना और नये जीवन की उपलब्धि में सहायक होते। उन्हें तो दोनों दुनियाओं का फायदा उठाना है : बिना दोनों के बुनियादी दर्शन या जीवन-मूल्यों की गहरी जाँच-पड़ताल में उतरने की जोखिम उठाए। कोई संस्कृति यदि अपनी पहचान तक के लिए दूसरों द्वारा की गई व्याख्या पर आश्रित होने लगे - उनकी पूर्वाग्रही समझ के परावर्तित प्रकाश में ही अपने को देखने की आदी हो जाए, तो ऐसी अवस्था में उसका आत्म-बोध और आत्माभिव्यक्ति दोनों खण्डित होंगे ही। ऐसी औपनिवेशिक मानसिकता स्वाधीन सृजन और चिन्तन की राह में रोड़ा अटकायेगी ही; जहाँ वह सचमुच संभव हो सका है, वहाँ भी उसके समुचित स्वकार और गुणग्राही मूल्यांकन में जाने-अनजाने बाधक होगी ही।

वैसे भी दो संस्कृतियों से अभिज्ञ होना और दोनों को परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में देखना एक बात है और सिर्फ़ उस दूसरी संस्कृति और साहित्य की कसौटी पर अपनी संस्कृति और साहित्य को कसते हुए उसके दोष या कमियाँ गिनाते रहना बिलकुल दूसरी बात है। पश्चिमी सभ्यता के अनुभव से हम लाभ तो अवश्य उठा सकते हैं, किंतु अपने अनुभव और सृजन की गुणवत्ता को उसके आधार पर नहीं जाँच-परख सकते। असली चिन्ता हमारी यह होनी चाहिए कि हमारी गतिविधियाँ कितनी रचनात्मक और स्वाधीन हैं? क्या हम अपने वास्तविक अन्तर्जीवन से अपने लोगों की वास्तविक जीवन-धारा से जुड़ कर ऐसा कुछ उपजा रहे हैं, जो देश के दूसरे रचनात्मक कामों में लगे हुए लोगों की विचार-शक्ति को जगा सकें, उन्हें प्रेरणा दे सकें? या इसी बात को दूसरे पहलू से यों रख कर देखें कि जिस सीमा तक किसी देश और काल में उत्पन्न मौलिक विचार और मौलिक स्वाधीन कर्म किसी साहित्य की सृजनशीलता के लिए उत्प्रेरक का काम कर सकते हैं, उस सीमा तक क्या हमारा वर्तमान साहित्य-कर्म इस देश की मौलिक चिन्तन-धाराओं से और कर्म से ऐसा संबंध बना सका है, जिसे स्वाधीन, सृजनात्मक और प्राणवान् संबंध कहा जा सके? इस सवाल को स्वयं हमारे वर्तमान साहित्य को साक्षी बना कर पूछना होगा। मिसाल के लिए हिन्दी साहित्य की चार पीढ़ियों की कविता का साक्ष्य लें : 'है आदान एक अपमान, कर न सकें यदि हम प्रतिदान....' (मैथिलीशरण गुप्त); 'हो गए आज जो खिन्न-खिन्न, छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न, वह अकल कला गह, सकल छिन्न जोड़ेगी ....' (निराला)....'हरा-भरा है देश, रुँधा मिट्टी में ताप,पोसता है विष-वट का मूल, फलेंगे जिसमें शाप,....तपी मिट्टी जो सोख न ले, अरे, क्या इतना है पानी?, कि, व्यर्थ है उद्‌बोधन, आह्वान, व्यर्थ कवि की बानी?' (अज्ञेय) और....'खण्डन इस देश में, चाहते हैं लोग या कि मण्डन, या फिर अनुवाद लिसलिसाता भक्ति से, स्वाधीन इस देश में डरते हैं लोग, एक स्वाधीन व्यक्ति से' (रघुवीर सहाय)। तो, क्यों न इन्हीं लक्षणों के निमित्त से बात की जाए।

कविता को किसी ने जीवन की आलोचना बताया है और हमारे यहाँ भी कहावत है ही, कि 'साहित्य समाज का दर्पण है।' यदि हम उपर्युक्त उद्धरणों के कवियों पर भरोसा करें, तो हम देख सकते हैं कि ये सभी अपनी संस्कृति और अपने समाज के पर्याप्त संवेदनशील और प्रामाणिक प्रतिनिधि हैं; और फिर भी उनमें से कोई भी अपने समाज और परिवेश के बारे में उस तरह की खुशफहमी पैदा करने वाली बातें नहीं करता जैसी कि अमूमन राजनेताओं या धर्मप्रचारकों के मुख से सुनने को मिलती रहती हैं। अपनी संस्कृति से, परम्परा से इन कवियों का संबंध आत्म-तुष्टि वाला इकतरफ़ा संबंध नहीं है। वे सृजनशीलता की राह के रोड़ों के बारे में अत्यंत आत्म-सजग हैं : एक प्रतिकूल सांस्कृतिक - राजनीतिक परिस्थिति में काम कर रहे होने का खासा दबाव उनके मन पर है। प्रतिदानरहित आदान किसी देश की संस्कृति के लिए, उसकी रचनात्मक प्रगति के लिए भी कितना बाधक और घातक हो सकता है, इस ख़तरे को राष्ट्रकवि गुप्त जी हमारी राजनैतिक पराधीनता के युग में भी, जिस तरह रेखांकित कर रहे हैं, वह ध्यान देने योग्य है। उनके परवर्ती दौर के कवि निराला की कविता को पढ़ते हुए साफ प्रतीत होता है कि निराला को भी अपनी सांस्कृतिक परम्परा की अविच्छिन्नता का बना-बनाया आश्वासन उपलभ्य नहीं है। वे भी यहाँ - अपनी इस अत्यंत महत्वपूर्ण लम्बी कविता में - उसकी छिन्न-भिन्नता के कटु यथार्थ से उद्विग्न हैं : उनकी कविता में उस 'अकल कला' की सिद्धि का आश्वासन नहीं, बल्कि उसकी विकल खोज की पीड़ा ही बोलती है, जो कि इस 'सकल छिन्न' को जोड़ सकती है। ऐसा मूलगामी पुरुषार्थ उन्हें जिस अग्रज कवि में दिखाई पड़ता है, उसी का आवाहन वे 'तुलसीदास' नाम की इस लम्बी कविता में कर रहे हैं।

मगर यह तो हुई स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों की बात। अर्थात् विजयदेवनारायण साही जी ने जिसे सत्याग्रह युग कहा है, उस युग की बात। स्वातन्त्र्योत्तर या, दास्योत्तर-युग के रचनाकर्मी का अन्तःसाक्ष्य क्या कह रहा है? अज्ञेय ने - मुझे याद पड़ता है, अपने किसी साक्षात्कार में कहा था कि जहाँ तक हिन्दी-लेखक के स्वाधीन होने का प्रश्न है, वह तो १५ अगस्त, सन् ४७ की स्वाधीनता-प्राप्ति के बहुत पहले ही - तीसी के बरसों में ही स्वाधीन हो चुका था और स्वाधीन लेखक की तरह ही बोलने-बरतने लगा था। ऐसे कवि की यह साठ के दशक में लिखी कविता क्या कहती हैं? क्या यह 'कुशल भई विपरीत' जैसा चिन्तित-उद्विग्न और हमें चेताने वाला स्वर नहीं लगता? राजनीतिक पराधीनता से उभर आया हुआ, हरित-क्रान्ति की देहलीज़ पर खड़ा देश इस कवि को हरा-भरा तो दिखाई दे रहा है, पर किस कीमत पर? स्वाधीन भारत में जैसी संस्कृति पनप रही है, जैसे लक्षण

उसके दृष्टिगोचर हो रहे हैं, क्या वह वही है, जिसके लिए मैथिलीशरण गुप्त या निराला, प्रसाद जैसे कवियों ने देशवासियों का उद्‌बोधन और आह्वान किया था? यदि नहीं, तो फिर क्या यही मानना होगा कि कवि की बानी व्यर्थ हो गई? कैसे व्यर्थ हो गई? अकल-कला तक ले जाने वाले रचनात्मक पुरुषार्थ की वह प्रतिज्ञा क्या हुई? कौन उसकी राह में रोड़े अटका रहा है?

मगर रोड़े हटाना तो फिर भी आसान है। यहाँ तो कवि उसी शस्य श्यामला मिट्टी के रुँधे हुए ताप की बात कर रहा है। क्या है वह ताप? क्या वह उसका 'मैला आँचल' है, जो अब भी अपने ही घर में प्रवासिनी है? और वह विष-वट क्या है, जिसको, जिसके मूल को पोसे जाने की बात यह कविता कर रही है? क्या वह यूरोपीय सभ्यता के साथ भारत के औपनिवेशिक संबंध की वह जड़ है, जो 'हिन्द स्वराज' के लेखक के कथनानुसार धर्म के क्षेत्र में जमनी चाहिए थी; मगर जो धर्म के नहीं, अधर्म के क्षेत्र में जमी जा रही है। शाप की और शाप के फलने की चेतावनी तो 'हिन्द स्वराज' में भी दी गई थी – दो-दो जगह। एक तो यह . . . कि 'गरीब हिन्दुस्तान तो गुलामी से छूट भी जाएगा; लेकिन अनीति से पैसे वाला बना हुआ हिन्दुस्तान गुलामी से नहीं छूट सकेगा।' और दूसरा यह, कि 'हमारे विचार प्रकट करने का ज़रिया अँग्रेजी है। अगर ऐसा लम्बे अरसे तक चला, तो आने वाली पीढ़ी हमारा तिरस्कार करेगी और उसका शाप हमारी आत्मा को लगेगा। अँग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोगों ने प्रजा को ठगने और परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। राष्ट्र की हाय अँग्रेजों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी' (हिन्द स्वराज)। सोचने की बात है कि कहीं यह वही शाप तो नहीं है।

प्रत्येक विकासमान संस्कृति में एक दोहरी प्रक्रिया देखी जा सकती है : उसके अपने केन्द्र से होने वाला आत्म-चरितार्थन और बाहर की, दूसरी संस्कृतियों की टकराहट से पैदा होने वाले प्रभावों का समावेशन या अनुकूलन। जब पहली प्रक्रिया शिथिल पड़ जाती है या उसमें गतिरोध उत्पन्न हो जाता है, तो उक्त दूसरी प्रक्रिया से आत्म-नवीकरण की संभावनाएँ प्रकट होने लगती हैं। अपने केन्द्र, अपने मूलाधार पर टिक कर ही हम सामूहिक रूप से रचनात्मक यानी आत्म-सर्जक हो सकते हैं। किन्तु जहाँ व्यापक स्तर पर जन-समुदाय और उसका बौद्धिक नेतृत्व करने वालों पर पस्ती छाई हुई हो, वहाँ प्रारम्भ में इकतरफ़ा आदान भी अनिवार्य हो उठता है और उन्नीसवीं सदी के भारत में यही हुआ। उदाहरण के लिए हमने साहित्य में उपन्यास और 'ऐस्से' को अपनाया, विज्ञान में अनुमानमूलक और प्रयोगात्मक अनुसंधान-प्रक्रिया को, राजनीति में प्रेस, मंच, आंदोलन और सार्वजनिक संगठन की गतिविधियों को। इससे देश में उस समय पुनर्जागरण की प्रक्रिया को भी बल नहीं मिला, यह कोई नहीं कहेगा। किन्तु, यदि वह पुनर्जागरण था, तो निश्चय ही उसके भीतर कहीं कोई छिद्र भी रहा होगा। अन्यथा हमारे वर्तमान समाजिक परिवेश में – प्रगति के सारे दावों के बावजूद – इतनी कुण्ठा, इतनी उदासीनता क्यों दिखाई देती है और स्वयं धर्मपाल सरीखे गाँधीनिष्ठ खोजी विचारक – जिन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य से मर्माहत किन्तु फिर भी किसी सीमा तक जीवित और अक्षुण्ण रही आई अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत की सामाजिक जीवन-व्यवस्था की स्वावलम्बी क्षमताओं की एक उजली और प्रमाणपुष्ट तस्वीर हमें सुलभ कराई थी – ऐसे लोग भी इस प्रगति से क्यों इतने असंतुष्ट और क्षुब्ध रहे? इसीलिए न कि देश का अधिसंख्य जनसामान्य न केवल इस प्रगति के लाभों से ही वंचित रहा आया, बल्कि इस समूची प्रक्रिया में अपनी उपस्थिति और जीवन्त भागीदारी के अहसास से भी। जरा देखो तो सही, भारत की समस्त अस्मिता की भाषा हिन्दी का एक और महत्वपूर्ण कवि इस दुर्घटना को किस तरह अपनी कविता में दर्ज़ कर रहा है : 'किसी की खोज है उनको किसी नेतृत्व की

पीली धुमैली पसलियों के पंजरों वाली उदासी से पुती गाएँ
भयानक तड़फड़ाती ठठरियों की आत्मवश स्थितप्रज्ञ कविताएँ
उपेक्षित काल-पीड़ित सत्य के समुदाय
समूचे दृश्य से मुँह मोड़ कहते हैं
हटाओ ध्यान हमसे वास्ता क्या है
कि वे दुःस्वप्न आकृतियाँ असत् हैं, घोर मिथ्या है।' (ग.मा. मुक्तिबोध)

मुक्तिबोध और रघुवीर सहाय की कविता जिस तरह हमारे सामाजिक अस्तित्व और राजनीतिक परिदृश्य को हमारी चेतना की अग्रभूमि में ले आई, वह स्वयं नई कविता में भी एक नए प्रस्थान की सूचक थी। इस तरह की सामाजिक-राजनैतिक चेतना और उसका ठेठ समकालीन मुहावरा निश्चय ही हिन्दी कविता के इतिहास में एक नया मोड़ लाया। जब हम इसी के बाद की कविता – मसलन धूमिल की 'पटकथा' द्वारा प्रयुक्त मुहावरे पर आते हैं, तो एक अतिरिक्त तीखापन और अतिरिक्त आग्रह वाली सपाट भाषा का इस्तेमाल पाते हैं। 'क्या आज़ादी महज़ तीन थके हुए रंगों का नाम है, जिन्हें एक पहिया ढोता है?' . . . 'मैंने, जिसकी पूँछ उठा कर देखा, 'उसे मादा पाया'; 'हर औरत तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है' . . . जैसी काव्य-पंक्तियाँ कवि-संवेदना की किस रुझान को रेखांकित करती हैं? देखना दिलचस्प होगा कि ठेठ आज की हिन्दी-कविता किस प्रकार इन पूर्ववर्त्ती कवियों से मिली प्रेरणा को आगे बढ़ाती हुई या उससे अलग सुर और तेवर पकड़ती हुई अपना कवि-कर्म निभा रही है। उसके स्वाधीन विकास का कैसा क्या आश्वासन उनकी रचना देती है। प्रस्तुत लेख में इसके विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है, फिर भी, बानगी के तौर पर दो-चार कविताओं को उद्धृत करना काफी होगा।

सबसे पहले विनोदकुमार शुक्ल की 'रायपुर-बिलासपुर संभाग' शीर्षक कविता देखें, जिसमें स्वातंत्र्योत्तर 'भारत दुर्दशा' का एक प्रामाणिक दृश्यालेख ही नहीं, वस्तुस्थिति और सच्ची कवि-संवेदना के संबंध की भी एक

मौलिक समझ और अभिव्यक्ति दिखाई देती है। सूखाग्रस्त प्रदेश की मानवीय त्रासदी से विचलित-विक्षुब्ध इस कविता का चरितनायक स्टेशन पर खड़ा अपना गाँव-घर छोड़ कर जीविका की तलाश में विस्थापित होने को मज़बूर, भीड़ से घिरा हुआ है। अपनी करुणादीप्त संवेदना के हाहाकार में मुक्तिबोध की याद दिलाती, किंतु उनसे सर्वथा भिन्न और स्वाधीन भंगिमा में यह कविता कहती है : '.... कि तालाब की सूखी गहराई के बीच

मैं भी तालाब का कोई छोटा-सा विचार देखूँ....
बुरे समय के बाढ़ के पानी को
दीवाल-सा रोकता बाँध का परिचय दूँ
कि मैं क्या हूँ आख़िर, मेरी ताकत भी क्या है
बाढ़ को रोकने वाली दीवाल
छोटे से गाँव के तालाब का छोटा-सा विचार है
बिखर गए एक-एक कमज़ोर को, इकट्ठा करता हुआ
ताक़त का परिचय दूँ
कि मैं क्या हूँ, मेरी ताक़त क्या है
इकट्ठी ताक़त तो एक-एक कमज़ोर का विचार है'

यह कविता किसी सुनहरे अतीत या सुनहरे भविष्य के वादे पर वर्तमान को निछावर कर देने वाली कविता नहीं है। मुक्तिबोध की संवेदनात्मक तीव्रता और आस्था-दीप 'फैण्टेसी' से इसका सुर कहीं गहरे में मिला हुआ है। कविता का समापन करता हुआ कवि हमें बरबस ही अपने उस सपने का साझीदार बना लेता है :

'एक ग़रीब जैसे हर जगह उपलब्ध आकाश पर
गोली का निशान गोल सूरज
रिसता रक्त पूरब कोई सुबह
उसी सुबह एक ज़िन्दा चिड़िया का हल्ला....
बच्चों को कंधे पर बैठाए लोग
इस तरह भविष्य तक ऊँचे लोग
उधर वहाँ
'था एक पेड़' की कहानी का जहाँ खात्मा
वहीं सुरक्षित पीपल का एक बीज-अंकुर
'एक पेड़ है' कहानी की शुरुआत
उसी पेड़ पर
जिस पेड़ की फुनगी को सारे आकाश का निमंत्रण।'

दिन-दहाड़े, जीते-जागते दुःस्वप्न के भीतर से उगा कवि-संवेदना और कवि-आस्था का यह बीजांकुर हमें उथला या महज़ भावुक आशावाद नहीं लगता; बल्कि हमारी अपनी अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना को हमारी अपनी समग्र अस्मिता की श्रृंखलावार कथा की 'अस्ति गोदावरी तीरे शाल्मली नाम वृक्षः' वाली काल-चेतना को भी झकझोर कर जगाता हुआ, उसी को प्रतिध्वनित करता लगता है। मुक्तिबोध की कविता यदि मलयज के मुहावरे में 'बाहर का अस्तित्ववाद' है, तो विनोदकुमार शुक्ल की कविता (और औपन्यासिकता भी) उसी के भीतर से उझककर झाँकता हुआ ठेठ हिन्दुस्तानी लोकमंगल का नया सपना, जो अपनी प्रमाणिकता के लिए किसी राजनीतिक नारे या परजीवी मुहावरे का मुखापेक्षी बनके नहीं, बल्कि अपने समय के दुःस्वप्नों का यथावत् सामना और भाष्य करके ही देखा जा सकता है।

अंत में, यहीं पर मुझे कवि-आलोचक विजयदेवनारायण साही का भोपाल में दिया गया एक व्याख्यान याद आ रहा है - 'हमारा समय' उसमें वे कहते हैं, 'भविष्य के नाम पर वर्तमान को न्यौछावर कर देने की बात अकेले मार्क्सवादी नहीं कहते; मार्क्सवादी तो यूरोप की विचारधारा के केवल सौ-डेढ़ सौ वर्षों के लोग हैं। इससे ज़्यादा तो इस ढंग से सोचना रोमन कैथोलिक ने सिखाया।' साही जी मार्क्सवाद को उसी रोमन कैथोलिसिज़्म का एक प्रतिफलन बताते हैं। पर साथ में यह भी जोड़ देते हैं कि 'मैं मार्क्सवादियों और कैथोलिकों की ही बात नहीं करता। जिस अँग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीता, उन्होंने भी यही कहा। वे न मार्क्सवादी थे न कैथोलिक। वे शुद्ध साम्राज्यवादी थे।' अभी हमने विनोदकुमार शुक्ल की जो कविता पढ़ी थी, उसके साथ इसी व्याख्यानमाला में आगे साही जी जो कह रहे हैं, उसे भी जोड़ कर देखिए। साही जी कहते हैं : -

'न्यूयार्क और भूखों मरता छत्तीसगढ़ और बस्तर एक ही बीसवीं शताब्दी के अंग हैं। जो यह कहता है कि यह बीसवीं शताब्दी है और वह बारहवीं शताब्दी है, वह मार्क्सवादियों की तरह या साम्राज्यवादियों की तरह झूठ बोलता है। न्यूयार्क और मास्को के होने की शर्त यही है कि एक छत्तीसगढ़ भी हो, एक बस्तर भी हो, और बना रहे। जिस दिन बस्तर उठने लगेगा, न्यूयार्क गिरने लगेगा।'

मैं समझता हूँ यह हमारे लिए अपनी स्वाधीनता की रक्षा और उसकी मूल्यवत्ता को भी सुदृढ़ करने की दिशा में एक ज़रूरी सबक है। इसी.... पर मैं इस विषय को लेकर अपनी चिन्ता को, और जो बातें उससे उठीं, उन्हें विराम देता हूँ।

अरुण यह मधुमय देश हमारा

महाकवि जयशंकर प्रसाद

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुमकुम सारा।।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे।
उ ते खग जिस ओर मुँह किए समझ नी निज प्यारा।।
बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा।।
हेम-कुंभ ले उषा सवेरे भरती ढुलकाती सुख मेरे।
मदिर ऊँघते रहते जब जग कर रजनी-भर तारा।।

स्नेह ठाकुर की प्रकाशित पुस्तकें

अनमोल हास्य क्षण	(नाटक-संग्रह)
जीवन के रंग	(काव्य-संग्रह)
दर्दे-ज़ुबाँ	(नज़्म व ग़ज़ल संग्रह)
आज का पुरुष	(कहानी-संग्रह)
जीवन-निधि	(काव्य-संग्रह)
आत्म-गुंजन	(आध्यात्मिक-दार्शनिक गीत)
हास-परिहास	(हास्य कविताएँ)
ज़ज़्बातों का सिलसिला	(काव्य-संग्रह)
The Galaxy Within	(A collection of English poems)
अनुभूतियाँ	(काव्य-संग्रह)
काव्य-वृष्टि	(संकलन एवं संपादन)
पूरब-पश्चिम	(आप्रवासी सम्बन्धित आलेख संग्रह)
बौछार	(संकलन एवं संपादन)
काव्य हीरक	(संकलन एवं संपादन)
संजीवनी	(स्वास्थ्य सम्बन्धी लेख)
उपनिषद् दर्शन	(अध्यात्मिक)
काव्य-धारा	(संकलन एवं संपादन)
काव्यांजलि	(काव्य-संग्रह)
अनोखा साथी	(कहानी-संग्रह)

प्रकाशक व वितरक

स्टार पब्लिकेशंज़ (प्रा.) लि.
४/५ बी., आसफ अली रोड
नई दिल्ली - ११०००२
भारत
Star Publishers' Distributors
55, Warren Street
LONDON – W1T 5NW
England

दिल्ली प्रेस की सरिता व अन्य राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय
पत्रिकाओं में भी रचनाएँ प्रकाशित